ज्ञानमण्डल ग्रन्थमालाका नवाँ ग्रन्थ

गृह-शिल्प

श्री गोपालनारायण सेन सिंह,
बी० ए०

गृह-शिल्प

लेखक

बाबू गोपालनारायण सेनसिंह बी. ए., एल. टी.

अवतरणिका-लेखक

नाभा-राज्यके अमात्य श्रीमान् पं० श्रीकृष्ण जोशी

श्रीकाशी

ज्ञानमण्डल कार्यालय

धित मूल्य ॥)

१९७८

प्रकाशक
रामदास गौड़ व्यवस्थापक
ज्ञानमण्डल कार्यालय काशी
[१ सं० २०००—वि० १९७८]

मूल्य ॥) अजिल्द
॥=) बोर्ड कवर

मुद्रक
गणपति कृष्ण गुर्जर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी १०७—२१

विषय-सूची

अवतरणिका

इस पुस्तकमें शास्त्रोक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमेंसे द्वितीय अर्थात् अर्थागम-सम्बन्धी कई विषयोंपर विचार किया गया है जिनका जानना सब सांसारिक लोगोंके लिए उपयोगी और आवश्यक है। शास्त्रमें लिखा है कि कोई जान कर काम करते हैं और कोई बिना जाने। ज्ञानवालेको जो सिद्धि होती है* वह अनजानको नहीं मिल सकती।

भारतवर्षका एक वह समय था कि यहाँके लोग संसार भरकी सभ्य जातियोंमें अग्रगण्य समझे जाते थे। इस बातके विद्वत्सम्मत प्रमाण मिलते जाते हैं कि संसारमें न केवल धर्म, विद्या, कला और शिल्प आदि भारतवर्षसे पहुँचे किन्तु भोग विलासकी सामग्री भी दूर दूर द्वीपान्तरोंमें भारतवर्षसे ही जाया करती थी। स्वर्गीय श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्तके प्रणीत प्राचीन भारतकी सभ्यताके इतिहासमें प्रमाणपूर्वक प्रतिपादन

---

* ज्ञात्वाऽज्ञात्वेह कर्म्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति
विदुषः कार्य्यसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेत् ॥

किया गया है कि ईसा मसीह महात्माका धर्म बौद्धधर्मका ही रूपान्तर है जो कि भारतवर्षमें उत्पन्न होकर द्वीपान्तरोंके निवासियोंसे सादर गृहीत और सम्मानित हुआ। यह भी उसी ग्रन्थमें प्रमाणसहित लिखा है कि अङ्कगणित, बीज-गणित, रेखागणित, ज्योतिष और वैद्यविद्याकी उत्पत्ति भारत-वर्षमें ही हुई। यह भी द्वीपान्तरके निवासियोंको मानना पड़ा है कि लोहा, ताँबा इत्यादि धातुओंको उनके पत्थरों और खानोंसे निकालकर उपयोगमें लाना भारतवर्षसे ही प्रचलित हुआ। इस विषयमें सर जार्ज बर्डवुडका सविस्तर लेख कई वर्ष हुए विद्वानोंके दृष्टिगोचर हो चुका है। इस बातका समर्थन इससे भी होता है कि संसार भरमें प्राचीनसे प्राचीन ग्रन्थोंमें वेदोंको छोड़ और किसी ग्रन्थमें इन धातुओं-का उल्लेख नहीं पाया जाता। यह बात तो लोक प्रसिद्ध ही है कि भारतवर्षकेसे वस्त्र और किसी देशमें नहीं बनते थे* और विद्वानोंको विदित है कि प्राचीन कालमें रोमके सम्राट् (क़ैसर) और धनी लोग भारतके बने वस्त्र पहना करते थे और प्रायः अर्वाचीन समयोंतक इंगलिस्तानके धनिकोंकी स्त्रियाँ दस दस बारह बारह रुपये गज़की ढाकेकी

---

* माघ कविने लिखा है कि द्वारकाकी स्त्रियोंके शरीर जिन वस्त्रोंसे ढके हुए होते हैं उनकी "अम्बर" संज्ञा केवल नामसे ही नहीं, अर्थसे भी यथार्थ है। अर्थात अम्बर आकाश और वस्त्र दोनोंका नाम है।

मलमल पहिनती थीं। इन कपड़ोंके मूल्यमें इतना रुपया भारतवर्षमें आता था कि इंग्लिस्तानके लोगोंको यह देख कर द्वेष उत्पन्न हुआ और ऐसे नियम बनाये गये कि भारतवर्षसे कपड़ेका आना ही बन्द कर दिया गया और साथ ही ऐसा उद्योग किया गया कि यन्त्रोंद्वारा अच्छे कपड़े बनाने लगे जो भारतवर्षमें आकर यहाँके बने हुए कपड़ोंसे सस्ते बिकने लगे। यहाँतक कि गत सौ वर्षके भीतर इतना परिवर्तन हो गया कि स्त्रियोंने चर्खा कातना प्रायः छोड़ ही दिया और, क्या सम्पन्न क्या दीन, प्रायः सब ही अंगरेज़ी बना हुआ कपड़ा पहनने लगे। यूरोपके महासंग्रामके आरम्भ होनेसे पहले पाँच वर्षोंमें प्रतिवर्ष ४८ करोड़ रुपयेका कपड़ा और ३ करोड़ ७७ लाख रुपयेका सूत भारतवर्षमें आया और सं० १६६६-३४ में ४८ करोड़का कपड़ा और ४ करोड़का सूत आया।

किसी समयमें भारतवर्ष इतना धनसम्पन्न था कि यहाँके धनकी स्थितिको सुन कर समय समयपर कई जातियोंने द्वीपान्तरोंसे आकर इस देशपर आक्रमण किया यहाँतक कि भारतवासियोंसे अपना घर सँभाले न सँभला। भारतवर्षकी वर्तमान अवस्था सबपर विदित है। यह मानी हुई बात है कि यहाँकी मनुष्यगणनामें प्रत्येककी प्रतिदिनकी आय एक आनेसे अधिक नहीं है। यूरोप अमरीकाके सम्पन्न देशोंमें इससे बीस या पच्चीस गुनी आय है। भारतवर्षमें

करोड़ों प्राणी भूखे रहते हैं। क्यों न रहें जब ३४ करोड़ रुपयेके गेहूँ और चावल प्रतिवर्ष भारतवर्षसे बाहर जाते हैं ?

भारतवर्ष ऐसा देश है जहाँ मनुष्य जातिके उपयोगी प्रायः सब ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं और यहाँके मनुष्य ऐसे हैं कि सब प्रकारके शिल्प और कलाएँ उनको सिखाई जा सकती हैं। ऐसा होनेपर भी भारतवर्षको अधोलिखित पदार्थ निर्दिष्ट मूल्य देकर बाहरसे लेने पड़ते हैं:--कपड़े और सूतके अतिरिक्त चीनी १५ करोड़ रुपयेकी, लोहा और दूसरी धातु १२ करोड़ का, यन्त्रादिक साधन ६ करोड़, रेशम और रेशमी कपड़ा ४ करोड़, रासायनिक द्रव्य ३॥ करोड़, कागज़ और दफ़ती २ करोड़, मद्य २ करोड़, मोटरकार और बाइसिकल २ करोड़, रेलगाड़ी और रेलके साधन और उपकरण महासंग्रामके आरम्भसे पहले ६ करोड़ रुपयेके आते थे, अब तो इनकी भरमार सी हो रही है।

[यह ब्योरा टाइमूज़-आव इण्डियाके प्रकाशित किये हुए वर्तमान "इण्डियन इयर" बुकसे लिया गया है। करोड़से छोटे अंक छोड़ दिये गये हैं। जहाँ करोड़ पूरा होनेमें केवल दो तीन लाखकी न्यूनता है वहाँ पूरा करोड़ लिया गया है।]

इन वस्तुओंमेंसे कोई वस्तु नहीं है जिसको यत्न करनेसे भारतवर्षके लोग न बना सकें। परन्तु प्रजा असमर्थ है और राज्याधिकारियोंने अबतक प्रजाको ऐसे काम यन्त्रादिकोंके द्वारा बनाना सिखानेका यथोचित प्रबन्ध नहीं किया है। इसी-

लिए प्रजाका पेट काटकर इन वस्तुओंको देशान्तरोंसे लेना पड़ता है। बहुतसे पदार्थ ऐसे हैं जिनको महासंग्रामसे पहले देशोंसे लेना पड़ता था जिनके साथ पीछे युद्ध करना पड़ा। युद्धके कारण अधिकारियोंके विचारोंमें परिवर्तन हुए और भारत महामन्त्री, श्रीयुत मान्टेगूको प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि संग्राम के समाप्त होनेपर भारतवर्षमें उद्योग और शिल्पकी उन्नति की जायगी। परन्तु इस कार्यके लिए समय चाहिए। क्योंकि जापान जर्मनी इत्यादि देशोंमें यन्त्र-विद्या और कलाओंका यथावत् प्रचार पचास साठ वर्षमें हुआ है और यन्त्रोंका प्रचार होनेपर भी उन देशोंमें अभीतक गृह-शिल्पका लोप नहीं हुआ है। इसलिए भारतवर्षके अभ्युदयके लिए गृह-शिल्पादि उद्योगोंकी बड़ी आवश्यकता है। बाबू गोपालनारायण सेन सिंहजीने* 'वार्ता' अर्थात् शिल्प, उद्योग, वाणिज्य

---

* स्वर्गीय बाबू गोपालनारायण सिंहने अपने कई लेखोंका संग्रह करके गतवर्ष ज्ञानमण्डल कार्य्यालयको दिया था। इसमें बहुत कुछ बढ़ानेका भी उनका विचार था। परन्तु दुर्भाग्यवश काशीसे प्रयाग जाते ही वहाँ उन्हें निमोनिया हो गया और चार ही दिनोंकी बीमारीमें उनका शरीरान्त हो गया। ये गयाके रहनेवाले बाबू रघुनाथसिंहजीके एक मात्र पुत्र थे। अवस्था लगभग ३२ वर्षकी थी, पर विवाह नहीं किया था प्रयाग विश्वविद्यालयके एल्. टी. थे। बहुत दिनोंतक कायस्थपाठशालामें अध्यापक रहे। फिर "भविष्य" के सम्पादनविभागमें कुछ दिनोंतक काम किया था। वे विद्या-व्यसनी, सुशील, सच्चरित्र, और शान्त स्वभावके थे, हिन्दीके होनहार लेखकोंमें थे और विज्ञान परिषद्‌के सदस्य एवं सहायक थे।

रामदास गौड़ १—१—१८

इत्यादि वृत्तियोंके विषयमें बहुत अन्वेषण और विमर्श करके इस पुस्तकको प्रस्तुत किया है और यह प्रवृत्तिमार्गवाले सब लोगोंके पढ़ने, विचारने और क्रियामें परिणत करने योग्य है। भारतवर्ष का वर्तमान हीन दीन दशामें उद्धार करना और संसारके समृद्ध और उन्नत देशोंकी गणनामें लाना भारतवासियोंका ही कृत्य है। "उद्धरेदात्मनात्मानं" (अपना उद्धार अपने आप करे) भगवान्के इस वचनपर आरूढ़ होकर कार्यमें प्रवृत्त होना सबको उचित है विशेष कर पढ़े लिखों को।

श्रीकृष्ण जोशी।

गृह-शिल्प
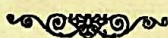
१.

हमारा औद्योगिक पुरुषार्थ

कोई बड़ी जाँचकी ज़रूरत नहीं है। अपने घरमें ही बैठे बैठे किसी शहरमें किसी दिन और किसी घड़ी ज़रा कान देकर सुनिये। बस लीजिये कितने ढङ्गके खेल-नाच-रंग-तमाशेवाले आपके मुहल्लेसे होकर निकलते हैं। सवेरा हुआ नहीं कि इधर इकतारा और मंजीरा लेकर "हर गंगा" वाले कवित्त पढ़ने लगे। उधर दिन चढ़े मुसल्मान फ़कीर झुण्ड बनाकर "दीनके फ़िक़रे" सुनाने लगे। दोपहर-तक 'पीर साहब'के डफली और ढोलकवाले आये और घंटों दरवाज़े दरवाज़े भीड़ लगाते फिरे। एक ओरसे सँपेरा अपनी तुमड़ीकी झनकारपर लहरा मार गया। दूसरी ओर कोई चिकारा या सारंगीपर गोपीचन्दके वैराग्यकी कहानी सुना गया। इतनेमें नट या बाँसपर चढ़नेवालोंकी डुगडुगी बजी। पीछेसे उनके चचेरे भाई मदारी भी डमरू हिलाते अपने पालतू रीछ, बन्दर और बकरोंकी मंडली लेकर सामने आये, कहाँतक

गिनायें, तीसों दिन हमारे बाज़ारोंमें मेला लगा रहता है। न कोई खिलाड़ी या तमाशेवाला खाली बैठता है और न उसे दर्शकोंका अभाव होता है। कसेरा इधर बर्तन पीट रहा है और उधर चंगपर लावनी सुनता जाता है, बढ़ई लकड़ी खराद रहा है और साथ ही पुतलीका नाच देख रहा है। बात क्या है कि हमारे कारीगर मज़दूर बनिये महाजन तमाशेके पीछे इतने बावले रहते हैं? उत्तर मिलेगा कि वह काममें एकबारगी दिल जमा नहीं सकते। उनके स्वभावमें झोल पड़ गया है, उनमें ढील देनेकी आदत आगयी है। वह जी तोड़ काम नहीं कर सकते। उनसे पसीना चुआकर काम सर नहीं हो सकता, सुस्तीकी मात्रा अवश्य बहुत बढ़ गयी है। इसी कारण उन्हें छुट्टी त्योहार मनानेकी अधिक आवश्यकता पड़ती है। महीनेमें कितने ही दिन वह घर बैठना चाहते हैं। दूकानमें या कामपर आते भी हैं तो देरसे और वहाँ भी बात पीछे हुक्का तम्बाकू, गोटी, ताश या कौड़ी खेलनेकी सुरत चढ़ी रहती है। कारखानेके अन्दर जाकर देखिये। जबतक कोई चौधरी या मेट इनके सिरपर सवार न हो तबतक यह कामसे छिपते फिरते हैं। जहाँ दाव मिला कि भाग निकले और इधर उधर डोलने लगे। कामके समय भी नहाने, खाने और हुक्का चिलमका ये झमेला लगाये रहते हैं। चाहे इन्हें दुगुनी और तिगुनी मज़दूरी पानेका लोभ भी दिया जाय, पर इनसे काम नहीं सपरता। यह तो हुआ कमचोर मज़दूरोंका हाल, इधर पढ़ेलिखे बाबू भी कुछ सराहने योग्य नहीं हैं, उनपर भी सदा आलस्य छाया रहता है। वे भी दिन दोपहर जम्हाई ले लेकर चुटकियाँ बजाया करते हैं। उनके रगोंमें एक प्रकारकी सुनबहरी मार गयी है, फिर जब शरीरमें शक्ति नहीं तो साहस और उत्साह

कहाँसे आए। अपनी जीविका कमानेमें पूरा पूरा श्रम नहीं होता, तब लोकहितके लिए हाथ पैर हिलाना दूर रहा। भोजन आहारकी सामग्री जुटानेमें ही जब सारी आयु खप जाती है तब देशमें नीति, स्वतन्त्रता और सुख फैलानेका प्रयत्न कौन करे। किसीने हिसाब लगाकर देखा है कि भारतवासियोंके जीवनका तिहाई भाग रोग और रोगकी निर्बलतामें ही बीत जाता है अर्थात्, यदि किसीकी आयु ४५ वर्ष की हुई तो १५ साल उसके निरन्तर जूड़ी, बुखार, खाँसी, चेचक और हैज़ामें ही सर्फ़ हो जाते हैं। तभी तो हिन्दुस्तानियोंकी उमरकी औसत इतनी थोड़ी ठहरती है। नीचेका लेखा देखिये।*

देश	प्रौढ़ होनेका समय	औसत उमर	कितने साल काम करते हैं
उत्तर भारत	१६	२२½	६ वर्ष
भारत	१६	२५	६
यूरोप	१७	३५	१८
अमरीका	१८	३८	२०

भारतवर्षमें लड़के बहुत शीघ्र जवान हो जाते हैं और काम करने योग्य हो जाते हैं, पर वे दीर्घायु नहीं होते। वे अपने कुटुम्बी और देशवासियोंको धोखा देकर कुछ ही दिनोंके बाद अर्थात् जवान होनेके ६ वर्ष पश्चात् उनसे अपना पल्ला छुड़ा लेते हैं और इस संसारसे कूच कर जाते हैं। यूरोपवासी जहाँ १८ वर्ष और अमरीकानिवासी २० वर्ष अपने सामर्थ्यसे देशका उपकार करते हैं, वहाँ ६ वर्ष भी जमकर भारतवासी

* प्रोफेसर टामसनकी एक वक्तृतासे, जो उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालयके छात्रों के सम्मुख दी थी।

काम नहीं कर पाते। उनके लालन-पालन और शिक्षा में जो खर्च बैठता है वह भी भली प्रकार नहीं सधता। ज्योंका त्यों उनके शिर ऋण चढ़ा रहता है। इससे बढ़कर शोचनीय विषय और क्या हो सकता है?

यह केवल नगर और नगरवासियोंपर ही घटता हो, यह बात नहीं है। ग्रामवासियोंकी दशा और भी हीन है। वहाँ अकर्मण्यताका अलग ही एक अटल राज्य है। शहरसे दो चार दिनके लिए भी गाँवमें जाकर देखिये, चित्त कैसा अकुला जाता है। जिधर आप दृष्टि डालेंगे उधर ही बैठा-बैठी देखेंगे। लोग दिशाजङ्गल, खाने नहानेमें दो दो, चार चार घण्टे लगा देते हैं। समयका कोई मोल ही नहीं। दोप-हरको नित ही लोग सोया करते हैं। नींद लेकर उठते हैं भी तो द्वारपर बैठे बैठे झंखा करते हैं, मक्खी मारा करते हैं। यदि पूछिये कि खेतीका काम फिर कौन करता है, तो कहना पड़ेगा कि सिवाय कमिये, हलवाहे, बोने काटनेवालेके कोई खेतपर नहीं रहता। केवल साँझ सवेरे लोग घूम आते हैं, और फिर खेतीका काम क्या सब ऋतुओंमें होता है? घरमें जो बिलकुल अकेला है और जो खरीफ़ और रबी दोनों ही जोतता है वह भी चार महीने घरमें निठल्ला बैठता है। इसके अतिरिक्त घरके सब प्राणी जो कृषिके सहारे बैठे रहते हैं यदि आपसमें काम बाँटा जाय तब उनके हिस्से तो सालमें भी कुछ काम नहीं पड़ता। कल्पना कीजिये एक परिवारमें १० प्राणी हैं, इनमें ५ पुरुष और ५ स्त्री बच्चे हैं, इनके बीच १० या १५ बीघेकी खेती होती है। अब क्या १०, १५ बीघेकी खेतीमें, जिसमें ऊपरसे मज़दूर भी लगाये जाते हैं, ५ आदमी बराबर लगे रह सकते हैं, कभी नहीं! विशेषकर कुलीन और

उच्च जातिके पुरुष तो खेतीके वहाने गाँवमें बैठे बैठे दिन काटा करते हैं, वे अपने हाथसे खरतक तो उसकाते नहीं खेती करनेका दम भरते हैं, इसमें और कोई बात नहीं। हम लोग कामसे मुँह मोड़ते हैं और साथ ही किसी हीलेसे घर-पर बैठे बैठे एककी कमाईमें हिस्सा बँटाकर पेट पोसना चाहते हैं। यह इन्हीं "पर मुण्डी फलाहार करनेवालोंके" कारण देखा जाता है कि विहारमें जहाँ भारतवर्षके सब प्रान्तोंसे अधिक जनता आवाद है—अर्थात् मुजफ़्फ़रपुरमें ८३७ प्रतिवर्ग मील और सारनमें ८५३ मनुष्य—थोड़ी ज़मीन-के जोतमें अधिक मनुष्योंके सम्मिलित होनेसे प्रत्येक मनुष्य-पर बड़ी कठिनतासे आधी एकड़ भूमि पड़ती है, जबकि पंजाबमें प्रति मनुष्य ३ एकड़ और मद्रासमें ८ एकड़का हिसाव बैठता है। सम्भव है, इससे किसीके मनमें यह सन्देह उत्पन्न हो कि आवादी बढ़ जानेके कारण थोड़ी ज़मीनके लिए खींचातानी करनेके कारण यह स्थिति देखनेमें आती है। पर ऐसा सोचना महा भूल है। कारण, जिनके पास भूमि है वे और जिनके पास भूमि नहीं है वे भी सभी कृषिके आधार-पर बैठ रहते हैं। सरकारी गणनासे पता चलता है कि यदि भारतवर्षकी कुल जनताके दश भाग किये जाँय तो उसमें ६ भाग कृषिपर आश्रित हैं। यह इस बातसे और भी प्रत्यक्ष जान पड़ता है कि हमारे देशमें शहरमें रहनेवालोंकी आबादी बहुत ही थोड़ी है, यहाँतक कि प्रायः सब लोग गाँवमें ही रहते हैं, जब कि इंग्लिस्तानमें ७७ फी सदी लोग शहरोंमें बसे हुए हैं। अब हमारे यहाँ इतने लोगोंके गाँवमें रहनेका फल यह होता है कि वे सबके सब किसी न किसी प्रकार खेती-बाड़ीसे ही अपनी जीविका निकालते हैं, अर्थात् जो कुछ उपज

होती है उसीमें हिस्सा लेते हैं और स्वभावतः उन्हें केवल चुटकी ही मिलती है। देखिये, समूचे भारतवर्षमें पिछले सं० १८६७ और १८५८ की मनुष्यगणनाके बीच निम्नलिखित जातियोंकी संख्या किस तरह बढ़ी है।

ज़मींदार और काश्तकार	२७,५३,०००
मज़दूर	१,६७,३६,०००
जानवर पालनेवाले	३,६७,०००

इससे यह प्रमाणित होता है कि कृषिकार्यपर निर्भर रहनेवालोंमें अब ऐसोंकी संख्या अधिक बढ़ती जाती है जिनके पास अपनी भूमि नहीं है पर तब भी जो अपना निर्वाह उसीके आश्रयमें करते आये हैं। अकालके दिनोंकी जाने दीजिये, ऐसे भी सालमें कितने ही महीने जनताके इस बड़े समूहको बिना धन्धे रोज़गारके बैठना पड़ता है, जो एक बड़ी भयानक और दुःखकी वात है। कमसे कम इन पंक्तियोंके लेखकके मनकी व्यग्रताका ठिकाना उस क्षणसे नहीं रहा है जबसे उसके ध्यानमें आया है कि अनगिनत भारतवासी अपने जीवनके बहुत बड़े अंश—१२ महीनोंमें कई महीनों और चौबीस घण्टोंमें कितने ही घण्टों—का गला घोटते हैं और कहते हैं कि उनके लिए कोई काम ही नहीं, यही भारतवासियोंका बहुत बड़ा पाप हैं। इसका जबतक वे प्रायश्चित्त नहीं करते तबतक इस अकर्मण्यताका दण्ड दरिद्रता उन्हें भुगतनी पड़ेगी। जो 'सोए सो खोए' कभी मिथ्या होनेवाला नहीं है। हम सालके ३६५ दिनमें १०० या १५० दिन आधे जीसे लत्तो-पत्तोका काम करेंगे और चाहेंगे कि धरती फाड़कर हमारे घर लक्ष्मी प्रकट हो जाय। यह भी कहीं देखा गया है ?

संसारमें कर्मशीलता, कार्यकुशलता और अविरत परि-

श्रम—बस इन्हींकी पुकार है, इन्हींका सब मोल है, इन्हींका व्यवहार है, इन्हींके बदलेमें पृथ्वीके किसी खण्ड किसी देशमें चाहे जो वस्तु क्रय करले। संसारके एक कोनेमें बैठा हुआ 'डिज़' नामी मनुष्य लालटेन बनाता जाता है, या मिलर नामी व्यक्ति ताले गढ़ता है। बस हाथों हाथ वे दशों दिशाओंमें बँट जाते हैं और उन्हीं टीन और लोहेके पुरज़ोंके पलटेमें उसके घर जगत्की अखिल सम्पत्ति उमड़ी चली आती है। हाँ लालटेन या ताला बनानेका ढङ्ग जैसा वे जानते हैं वैसा दूसरा कोई नहीं जानता। लालटेन और ताला बनानेमें वे जैसी मुस्तैदी और मेहनत करते हैं उसका अन्य कोई पार नहीं पा सकता, तभी तो उनके अकेले लोहे टीनके कामके बदले कश्मीरमें लोग शालदुशाले बुनते हैं, चीनमें चायकी खेती करते हैं, आस्ट्रेलियामें भेड़ चराते हैं, अमरीकामें कपास उपजाते हैं, शेफील्डमें चाकू कैंची ख़रीदते हैं, अफ्रीकामें हीरा कोयला और सोना खोदते हैं, फ्रांसमें शराब खींचते हैं और रशियामें तेल खोदते हैं। डिज़ और मिलर इन भिन्न भिन्न देश-वालोंके हाथ ही अपनी लालटेन और ताला धरा देते हैं और उनसे सुखकी सारी सामग्री फल, मिष्टान्न, वस्त्र, गृह, पुस्तक, अख़बार, तसवीर, मोटरगाड़ी, तार, टेलीफोन, बिजलीकी रोशनी, चाय, चीनी, चुरुट, नाचघर या थियेटरका तमाशा सब प्रकारका भोगविलास लूटते और आनन्द करते हैं। कैसे? हम दुहराकर पूछ सकते हैं। डिज़ और मिलर इतने लोगोंके परिश्रमके फलके अधिकारी क्योंकर हो गये? दूसरोंसे काम लेनेकी कोई हद भी है? कहना पड़ेगा कि जिस परिमाणसे मनुष्य दूसरेके काममें अपनी विद्या बुद्धि और कला-कौशलसे सुभीता डालता है और जितनी अधिक संख्यामें वह मनुष्यों-

का उपकार करता है, उसी परिमाणसे और उतना ही अधिक मनुष्योंसे सेवा लेनेका उसे स्वत्व प्राप्त होता है। यदि कोई जङ्गली कोल, भील लाख और महुआ चुनकर बाज़ारमें लाता है और उस लाख और महुएको भी सर्वसाधारणके उपयोगी बनानेमें बहुत ख़र्च बैठे तो केवल दो ही चार पैसे उसे मिलेंगे, पर एडिसनके फोनोग्राफ बनानेपर लाखों करोड़ों मनुष्योंका तत्काल मनोरञ्जन होता है, इसलिए बंकमें उनके नाम लाखों रुपये जमा हो गये हैं जिससे वे सहस्रों प्रकारके द्रव्य और सेवा लिया करते हैं। प्रश्न है, भारतवासी आज क्यों ऐसे छूछे हैं ? कहने में आता है, उनके ऐसे ही लक्षण हैं। किसी प्रकारके शिल्प वाणिज्यसे वे दूसरी जाति और दूसरे देशवालोंपर अपना ऋण नहीं चढ़ा सकते, फिर वे वसूल क्या करेंगे ? संसारके उन्नत राष्ट्र और जातियोंकी सुख-समृद्धि देखकर वे तड़पा करते हैं, पर इनसे आप कुछ नहीं बन पड़ता। ये हौसले तो बहुत रखते हैं पर इस योग्य हों तो कुछ मिले। अन्तमें हारकर प्रायः वे सन्तोष, सरल रहन सहन और परिमित व्ययकी बातें बनाने लगते हैं। पर इनमें सच्चे त्यागी बहुत थोड़े होते हैं। अधिकांश मनुष्य धन और शारीरिक सुखके लोलुप होते हैं जो मन ही मन दूसरोंके ऐश्वर्य्य और सम्पत्तिपर कुढ़ा करते हैं। ऐसे लोगोंको चाहिए कि खुले खुले वे अर्थोपार्जनमें प्रवृत्त हों और उनके उचित साधनका प्रयोग करें।

प्यारे भारतीयो, अब भी मिथ्या भ्रम और मोहसे अपना पीछा छुड़ाकर इस अमूल्य औद्योगिक बलकी रक्षामें तत्पर हो जाओ।

२.

व्यवसाय और गृह-शिल्पके अवसर

विद्वानोंका कथन है कि भारतीय इतिहासको देखनेसे १३ वीं शताब्दीके भारतीय ग्राम और ग्रामीणों, तथा उनकी वर्तमान कालकी दशामें कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। उनके रहन-सहन, सुख-सम्पत, आपद-विपद्की स्थिति पिछले ६०० वर्षोंसे ज्योंकी त्यों चली आ रही है।

यह बात उन अगणित राजा, रईस, कर्मचारी, पण्डित, व्यापारी और समाज सुधारकोंके लिए, जिन्होंने इतने दिनों-तक इस देशको अपना कार्य्यक्षेत्र बनाया, भले ही प्रशंसाकी बात न हो, पर विचारकर देखनेसे प्रतीत होता है कि ग्रामीणोंकी दशामें परिवर्तन न डालनेके लिए जितने १९वीं २०वीं शताब्दीके लोग निन्दाके पात्र हो सकते हैं उतने पहलेके लोग नहीं। और यह इसलिए कि प्राचीन कालमें मनुष्य बहुत ही छोटे छोटे समूहमें पाये जाते थे। उनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए सहजमें पदार्थोंका संग्रह हो जाता था; दूरवर्ती जनसमूहोंमें, सड़क, पुल, रेल, तार न होनेके कारण परस्पर मिलने जुलनेका अवसर नहीं था। इस कारण उनमें सह-कारिता सम्भव ही न थी।

उन दिनों अनावृष्टिके कठोर कालमें हिमालय प्रान्तके गिरिनितम्बोंपर गढ़वालियोंके परिश्रम द्वारा गली हुई बर्फ़के झरनोंसे जिलाई हुई फसलमेंसे बङ्गाल वा गुजरातके निवा-सियोंका हिस्सा लेना एक महा असंगत बात समझी जाती

थी। पर आज समाचारपत्रोंके पढ़नेवालोंमें एक आठ वर्षका बच्चा भी जानता है कि भारतके किसी गाँवमें यदि मुट्ठी भर भी अन्न पैदा होता है तो वह सम्पूर्ण देशमें दाने दाने बट जाता है। कहींपर जो सेरभर खांड तैयार होती है तो उसके कारण भारतकी सभी मण्डियों और बाज़ारोंमें खांडकी दरमें भेद पड़ जाता है।

अब देखना यह है कि जब हमारे परस्पर व्यवहारकी घनिष्ठता इस परिमाणसे बढ़ी है तो हम अवसर और उपकरणके अनुसार क्यों न ऐसी व्यवस्था करें कि देशके एक प्रान्तके उद्योगधन्धे वा कृषि वाणिज्यसे और और प्रान्तोंको भी सहारा हो, जिसमें अनुकूल समय आनेपर सम्हलकर वे फिर सारे देशका कल्याण कर सकें। उदाहरणके लिए पंजाब वा युक्तप्रान्तके उन प्रदेशोंको छोड़कर जहाँ नदी वा नहर द्वारा कृषिकार्यके लिए पर्याप्त जल मिल सकता है, कोई कारण नहीं है कि हम और भागोंमें कृषिको ही अपना मुख्य व्यवसाय बनाएँ वा केवल उसीके आश्रित हो बैठें।

उचित प्रयत्नके बाद जो कुछ उपज हो, उसके अलावा ऊँचे पहाड़ी देशोंमें चायकी खेती हो सकती है। जहाँ जीते पत्थर मिलते हों वहाँ पत्थरकी पट्टियाँ, रोड़े, चूना, सीमेन्ट तैयार किये जा सकते हैं। जहाँपर आसपास जङ्गल हो, वहाँ शहतीर, स्लीपर, गोंद, राजन, कोयला इत्यादि बनाये जा सकते हैं; घास और लकड़ीसे कागज़, रस्सी आदिका सामान इकट्ठा हो सकता है। जहाँपर खनिज मिल सकते हों वहाँ उनकी खुदाईका प्रबन्ध किया जा सकता है। समुद्रतीर और जलाशयोंके पास जहाज़ नाव और लवणकी तैयारी, मछलियोंका पकड़ना, जूटकी धुलाई, कागज़की लुगदीका काम हो

सकता है। शहरोंके पास चमड़े, शीशे, ऊन या सूतके, कारखाने खुल सकते हैं। फल फूल और तरकारीके बाग लग सकते हैं। फलोंको सिरके आदिके साथ टीनमें दिसावर भेजनेका काम हो सकता हैं।

अभिप्राय यह है कि कृषिकार्यमें विघ्न पड़नेपर क्षणभरके लिए भी भारतवासियोंके मनमें यह विचार नहीं आने देना चाहिए कि बस अब वे निराधार हो गये, उनके जीनेका दूसरा कोई उपाय नहीं रहा। स्मरण रहे कि भारतवासियोंका दैव और भाग्यमें विश्वास बहुत करके उनके कृषिके अधीन होनेके ही कारण पाया जाता है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि चाहे कितने ही परिश्रमसे हमारे किसान जोतें बोयें पर वे मनमानी फसल नहीं काट सकते। फ़सलके पकनेके समयतक न जाने कितनी विपद उनकी आशाको निर्मूल करनेके लिए आया करती है। बाढ़, अनावृष्टि, ओले, टिड्डीदल, लाही, कीड़े, और तरह तरहके अदृष्ट विघ्न, "दैव" के स्वरूपमें उन्हें सताया करते हैं। सचमुच ही वे अपने पुरुषार्थसे अपनी दशा नहीं सुधार सकते और अन्तमें भग्न-हृदय और आलसी हो जाते हैं।

ऐसी कुदशामें कृषिके साथ साथ वा कृषिका काम ढीला पड़नेपर, कुछ ऐसा काम हमारे पास अवश्य होना चाहिए जिसमें बैठे हुए लोगोंको लगाकर हम दुर्भिक्षकी सम्भावनाको रोक सकें, तथा नये नये मार्गोंसे सम्पत्तिकी उत्पत्ति करा सकें। बहुत दिन नहीं हुए, इसी देशमें कृषिकार्यसे छुट्टी पाकर घर बैठी हुई स्त्रियाँ, चरखेपर कपाससे सूत कातती थीं, महुएके बीज वा एरण्डके बीजसे तेल निकालती थीं; मर्द गाँवमें जहाँ जाते थे, सन और पटुएसे, घिरनी-

पर सुतली बाँटते और चोप वा सवई वाससे रस्से तैयार करते थे। कहींपर शोरा तैयार होता, कहीं तेज़ाब उतारा जाता, कहीं रोली और सिन्दूर बनता, कहीं चरबीसे मोमबत्तियाँ ढाली जातीं थीं। इधर जबसे यह सब माल बहुत सस्ते दामपर विलायतसे आने लगे, लोगोंने क्रमशः अपना पुराना व्यवसाय छोड़ दिया और गाँवके भीतर वा शहरमें कृषि-कार्य वा कुली-प्रथाके ऊपर ही सन्तोष कर बैठे। फल यह हुआ कि वे दिन दिन निर्धन और निरुद्यम होते गये, बहुतेरे जीविकाकी खोजमें इधर उधर भटकते हुए शहरोंमें आये और वहाँके जल-वायुको दूषित कर उसे रोग-शोकका जमघट बना दिया।

आधुनिक समाजके दुखदारिद्रकी इस जटिल समस्याको हल करनेका केवल एक उपाय है कि भारतीय प्रजाके प्रत्येक व्यक्ति को जहाँतक संभव हो घरपर वा उसके निकट नितके धन्धेके अतिरिक्त उसकी सामर्थ भर ऊपरसे दो चार आनेकी आमदनीका सूत्र लगा दिया जाय। दफ़्तरी, लुहार, बढ़ईको आपने प्रायः देखा होगा कि यदि वे कहीं मज़दूरीपर काम करते हैं तो भी दोपहरके समय भोजन और विश्रामके लिए घर आकर कुछ न कुछ ठेकेका या निजका काम बनाने लगते हैं। दफ़्तरी बिसातियोंके पाससे कापियाँ लाकर जिल्द बाँधने लगता है, बढ़ई चारपाईके पाये, लड़कोंके पढ़नेकी पट्टियाँ, खूंटियाँ आदि बनाकर अपने लड़कोंको फेरीके लिए दे देता है; लुहार नालबन्दोंके लिए नाल और कील गढ़ता है, गज़, परी और चाकू बनाता है। आशय यह है कि सभी लोग मेहनत करके अपनी आमदनी बढ़ानेके लिए, उत्सुक रहते हैं।

पर इसका अवसर न मिलनेके कारण वे शिथिल हो जाते हैं और अन्तमें यह घाटा ठहरता है।

वैसाख-जेठके महीनेमें, रबी की फ़सिलके उपरान्त तथा अगहन पौषमें जहाँ ईखका काम नहीं होता या सिंचाईका काम अधिक ज़ोरपर नहीं रहता, यदि कोई संस्था वा समिति भिन्न भिन्न गावोंमें जाकर, उन वस्तुओंका नमूना दिखलाए जो अभी विलायतसे आती हैं पर यहाँ बिना अधिक कारीगरी ख़र्च किये प्रस्तुत हो सकती हैं तो देखिये कि यही अनाड़ी कृषक जो सालभरमें ४॥, गज़की दो धोतियोंके लिए तरसते हैं और जानवरोंकी तरह फ़सलके अनुसार कभी केवल ज्वार, बाजरा, कभी अरहर, मसूर और कभी केवल मक्केके दलिए-पर गुज़र करते हैं, फिर किस सुख और चैनसे रहते हैं और इन्हींको रसिकता, भावुकता और स्वतन्त्रताकी कैसी कैसी बातें सूझने लगती हैं।

इस समय जो माल जापान, अमरीका और इंग्लिस्तानसे आ रहा है उसका विशेष भाग घरपर ही बन सकता है। उनके बनानेमें जो कुछ दक्षताकी ज़रूरत पड़ती है वह भी शीघ्र ही सीखी जा सकती है। दस दस बीस बीस उस्ताद और मिस्त्री चारों ओर घूम घूम कर सिखानेके लिए भेजे जा सकते हैं। किसी जातीय-कोष नेशनलबोर्ड वा औद्योगिक विभागके सरकारी धनसे कच्चा माल, औज़ार आदि ख़रीदकर कृषक-कारीगरोंके हाथ बाँटा जा सकता है, बाज़ारकी आवश्यकता-नुसार मालकी तैयारीका आर्डर देना और उनका फिर इकट्ठा करना, उनके लिए विज्ञापन देना और बेंचना यह सब केवल थोड़े से प्रबन्धसे हो सकता है। जिस महान् उद्देश्यकी इससे

पूर्ति होगी उसके अपेक्षाभावसे-बिना कोई अधिक क्लेश वा झंझट उठाये ही—यह सब सिद्ध हो सकता है।

अब ज़रा अनुमान कीजिये कि वे कौनसे काम हैं जो हमारे कृषक अपने घरपर बैठे, छुट्टियोंमें बना सकते हैं। निश्चय जानिये, कामकी कमी नहीं है। देखिये नीचेकी सूचीः—

चीनी मिट्टीके बर्तन, खिलौने, टाइप ढालनेका काम, छतरी बनानेका काम, साबुन, इतर, तेल और दवायें, सीप, सींघ और सूतके बटन, काठ और सींघकी कंघियाँ, सींघ वा हड्डीके बने कमीज़के बटन और लिंक, कलमके होल्डर; लकड़ी वा हाथीदाँतकी शतरंज वा पचीसीकी गोटियाँ, लड़कोंके लिए काठके खिलौने, काठके वर्णमालाके अक्षर, कपड़े और भूसेके मढ़े हुए कुत्ते, बिल्ली हाथी, ऊँट, चूहे, खरगोश और बन्दर, दूसरी दूसरी चिड़ियाएँ; तसवीरके चौखटे, किताब रखनेकी छोटी अलमारियाँ. इतरदान, कलमदान, शमादान, सुराही-दान, मुगदर, हलके डम्बबेल, ताड़, खजूरकी पंखियाँ, रोग़न-की हुई फूल और तरकारी रखनेकी, बाँसकी खंगोरियाँ, मेज़ ढकनेके रुमाल, परदे, सादे वा मथुरिया छापके रजाईके पल्ले मसहरी, रुमाल, मोज़ेकी खोल, टोपीके पल्ले, सादे कामदार गोटे, पट्टे, सब तरहके ब्रुश दाँतके, जूतेके, टोपीके, बालके, चिमनी और बोतल, टीनके तराजू, टीप, पिचकारी, डिबिया, चमचे, मूसदानी, तश्तरियाँ, बाँसकी छड़ियाँ—सीधी, टेढ़ीकी हुई हौकीके कामकी, बाँसकी संदूकची, टिफिन रखनेकी, या रद्दी कागज़की टोकरी। कपड़ेके रंगीन नकली फूल, हार, कागज़के गुलदस्ते, सुगन्धित धूपबत्तियाँ, फूलोंसे-जैसे कुसम, हरश्रृंगार आदि—तैयार किये रंग, रबरकी मुहर, पीतलके ताले, चपरास, जीभ-छिलनी, रोशनाई, राइटिंग केस, ब्लाटिंग

पैड, बिस्तर बाँधनेकी चमोटी, छुरा तेज़ करनेकी पट्टी, चमड़े-की थैलियाँ या सूटकेस, सब तरहके अचार, चटनी, मुरब्बे, पापड़, सिरके, अमावट, बेर-चूर्ण, पाचनकी गोलियाँ, शरबत, मंजन, इत्यादि इत्यादि।

आरम्भमें बिना प्राप्तिके ही गाँववाले ये काम करना स्वीकार कर लेंगे, पर सीखने सिखलानेमें सामानके नष्ट होनेका अधिक भय रहेगा। इसमें बड़ी चतुरताके साथ, जो जिस कामके करनेके योग्य हो उसीको उसमें लगानेसे यह क्षति न होगी। लगातार मेले, प्रदर्शनियोंमें देसावरी मालकी बनावटपर ध्यान दिलाने और प्रतिवर्ष ख़ास ख़ास केन्द्रोंमें औद्योगिक-शिक्षा देने तथा प्रयोग करानेसे इस काममें बड़ी सुगमता आ जायगी।

भविष्यमें जन-साधारणकी शिक्षाकी नीति बदलकर, साहित्यिक शिक्षाके स्थानपर व्यवहारिक शिक्षा कर देनेसे नवयुवकोंकी इस ओर पहलेसे ही प्रवृत्ति होगी और उनमेंसे अच्छे अच्छे कला-प्रवीण निकलकर यहाँके गृह-शिल्पको सुदृढ़ कर देंगे। देशानुरागके बलपर कुछ कालतक, चैतन्य भारत-वासी, मोटे, कुढंगे और खोटे मालको ग्रहण करेंगे। परन्तु अधिकतर जिस बातके बहुत असहनीय होनेकी शंका है, वह चीज़ोंकी निरख है। हम लोगोंकी लोलुपता और अदूर-दर्शिताके कारण, देशी माल बहुत महँगे हों तो उनका बाज़ारमें टिकना कठिन हो जायगा। व्यवहारमें एक छोरसे दूसरे छोरतक देश- भक्तिका सुर नहीं अलापा जा सकता। अन्य राज्योंने व्यापारका व्यवहार बढ़ानेके लिए बहुत धन खर्चकर केवल लागतपर अनेक कालतक हमारे यहाँ माल बेचा है। उन्होंने तिजारतियोंकी, रेल, जहाज़ और चुंगीके महसूलमें क़िफायत करके रक्षा की है। सरकारी-कोषसे उधार देकर निश्चिततासे

मालके उलट-फेरके लिए समय दिया है। यदि इस संस्थाको हम अपने देशमें स्थापित करना चाहते हैं तो इसी विधिका अनुकरण करना होगा—पर समय बहुत निकल गया, अब शीघ्रता करनी चाहिये।

३.

गृह-शिल्पकी कठिनाइयाँ

बँधी हुई और नियत आयसे मँहगीके दिनोंमें काम चलता न देखकर, जब हम घर घर दस्तकारी और कारीगरीका काम खोलना और उससे लाभ उठाना चाहते हैं, तब सबसे बड़ी अड़चन यह पड़ती है कि माल बनायें तो सही, पर बेचें कहाँ और किसके हाथ। माना कि जैसे तैसे थोड़ीसी पूँजी जमा कर ली, दो चार सौकी एक सस्ती मशीन या आला औज़ार ख़रीद लाये, रोज़के कामसे फ़ुरसत पाकर कुछ माल भी तैयार कर लिया—यह सब बड़े सुभीतेसे हो गया, क्योंकि लाभवश गाँठका दाम लगा दिया। इसके उपरान्त घर अपना है जब ही निश्चिन्त बैठे काम बनाने लगे। घरमें कोई देखने भी नहीं आता कि हम क्या करते हैं। यदि धनका कष्ट है तो बिना अपनी प्रतिष्ठा गँवाये हम अपनी दशा सुधारनेका कुछ प्रयत्न स्त्री, बच्चे, बूढ़े सब मिलकर कर सकते हैं। पर भले आदमी कहलाते हुए हम सिरपर मालकी गठरी लादकर इस दूकानसे उस दूकानपर, दरवाज़े दरवाज़े, मारे मारे कैसे फिरें और इसपर भी क्या ठीक है कि माल

हमारा बिक ही जायगा और हम वृथा ही अपना स्वांग बना-कर घर न लौटेंगे। प्रायः विपत्तिकी मारी विधवाएँ, बिगड़े रईस और "सफ़ेद पोश" आधे पेट खानेवाले दरिद्र दफ़्तरके बाबू, थोड़ी पूँजी लेकर ही संसारयात्रा करनेवाले साहसी युवा पुरुष, जैसे ही लोग इस छोटी व्यवसायकी धुनमें रहते हैं और उन्हें बहुधा बड़ा घाटा उठाना पड़ता है। इधर कितने ही मित्रोंके घर मैंने मोज़े, बनिआइन और गुलूबन्द बुनने, बटन बनाने और दवाइयोंकी टिकियाँ बनानेकी कलोंमें मक-ड़ियोंको जाला पूरते और ज़ङ्ग लगते देखा है। मैंने उनसे पूछा भी है, क्यों भाई जब इसे चलाना ही नहीं था तो इसमें रुपया क्यों लगाया। उत्तर मिला—"बड़ा धोखा हुआ, कल बेंचनेवाली कम्पनीने इश्तिहार दिया था कि हम तय्यार किया माल तुम्हारी तरफ़से बेच दिया करेंगे, पर यह एक चाल थी। जब हम कल मोल ले चुके और उससे माल बना कर भेजा तो तरह तरहकी उसमें बुराइयाँ बताकर माल वापस करने लगे। दो चार बार देखा, हारकर माल ही बनाना छोड़ दिया, क्योंकि यहाँ कोई लेनेवाला नहीं, फिर किस भरोसे घरका आटा गीला करें।"

यहाँ इसी सङ्कट और निराशासे बचनेके कुछ उपाय बताये जाते हैं, कदाचित् हमारे व्यवहारी भाइयोंको उससे कोई सहारा मिले। पहली बात ध्यानमें रखने योग्य यह है कि जो माल हम तैयार करें, देशमें उसकी ख़ासी माँग वा चाह हो, क्योंकि जिस व्यवसायमें बाहरवाले दूरसे माल लाकर यहाँपर नफ़ा उठा जाते हैं उसमें हमारा एक हिस्सा लेनेका यत्न सफल हो सकता है। ख़ैर जब यह देख लिया तो यह भी निश्चय कर लेना चाहिए कि हम बाज़ारकी दरसे

कम किसी तरह अपना माल न बेचेंगे, नहीं तो इसमें बड़े बड़े झगड़े उपस्थित होते हैं। इस विषयमें यहाँपर इतना ही कहा जा सकता है। अब माल बेचनेके कई ढङ्ग हैं। उनमेंसे संक्षेपसे हम दोका नीचे उल्लेख करते हैं।

पहली विधि

माल तैयार करनेवाले सीधे उन आढ़तियोंके हाथ माल बेच डालें जो छोटे मोटे दुकानदारोंके साथ व्यवहार रखते आये हैं।

ऐसे आढ़तिये प्रायः हर एक क़िस्मके मालके लिए अलग अलग हुआ करते हैं। उसमें सबसे अधिक साखवाले आढ़तियोंको अपने लिए ढूँढ़ना चाहिए। जब हमारे पास माल खरा और अच्छा है तो फिर मालके बिकनेमें कोई सन्देह नहीं रहा। यदि एक आढ़तिया मालका पूरा और चोखा दाम नहीं देता तो वह न सही कोई दूसरे आढ़तियेके हाथ बढ़ती दरपर माल बेचा जा सकता है। परन्तु ऐसी अवस्थामें पहले यह सोच लेना चाहिए कि पुराने आढ़तियोंको एकाएक छोड़कर नये आढ़तियेके साथ व्यवहार करनेमें सब प्रकारसे लाभ है या नहीं।

आढ़तियोंसे व्यवहार सम्बन्ध करना कुछ कठिन नहीं है। उनका पता शहरके किसी दुकानदारसे मालूम हो सकता है और नहीं तो किसी डिरेक्टरीको (Directory) उठाकर देख लीजिए। उसमें सैकड़ों आढ़तियोंके पते छपे होते हैं। आढ़तियोंकी मारफ़त माल बेचनेमें कई तरहसे किफ़ायत रहती है। एक तो विज्ञापनके ख़र्चसे बच जाते हैं, दूसरे बिक्रीके लिए माल दिखलाने या फेरी करनेवालेकी मज़दूरी भी नहीं देनी पड़ती।

आढ़तियोंसे लेनदेन करनेमें ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि लोग व्यवहारमें कोई दूसरा विचार नहीं आने देते पर समझानेसे वे दिसावरी मालसे घरके बने मालको अधिक पसन्द करेंगे। जहाँतक हो अपनी ओरसे कोई उलहनेका अवसर न दिया जाय तो अच्छा है। माल जहाँतक हो सके बढ़िया हो। दाम भी जितने सस्ते हो सकते हों लिये जायँ। शुरूमें कुछ घाटा उठाकर भी उनसे सम्बन्ध करनेमें लाभ रहता है। यह तो एक पुराना दस्तूर है, इससे पहले जो घाटा होता है वह कुछ दिनोंके व्यवहारमें दूसरी तरह निकल आता है। मान लीजिए किसी काममें आपने दो पैसे छोड़ दिये। जब आपका यह माल चल निकला तो दूसरी तरहके मालमें आपने दाम कसकर लिये।

दूसरी विधि

कभी कभी आढ़तियोंसे व्यवहार खोलनेमें अड़चनें पड़ती हैं क्योंकि आढ़तियोंका माल खुद ही बिसातियोंके हाथ देरसे निकलता है। देशी माल विलायती मालसे अच्छा ही क्यों न हो, इसमें थोड़ा बहुत उनके हाथ किफ़ायतसे बेचने या बाहर-से समाजका दबाव डालनेसे काम चल सकता है, पर व्यव-हारमें इन तरकीबोंसे अधिक सफलता नहीं होती। इसीलिए यहाँपर माल बेचनेकी एक दूसरी विधिकी चर्चा की जाती है और वह यह है कि एक ऐसी स्थानीय समिति बनायी जाय जो गृहशिल्पको उन्नत करने और उसके मालके व्यापारको बढ़ानेमें सहायता दे। उसकी ओरसे शहरमें एक ऐसी दूकान हो जहाँपर माल अच्छी तरह दर्शकोंके लिए फैलाया जाय। उसके प्रतिनिधियोंको घर घर माल

बनानेवालोंसे परिचित होना चाहिए और इसकी ख़बर रखनी चाहिए कि किसके पास कौनसा माल तैयार होता है। ये प्रतिनिधि कच्चे मालके ख़रीदने या औज़ारों और कलोंके मोल ले देनेमें भी सहायता पहुँचाएँ। इकट्ठा बहुतसा माल लेकर यह छोटे कारीगरोंके हाथ बहुत थोड़े मुनाफ़ेपर खुदरा बेचें। इन सब कामोंके लिए एक दफ़्तर और एक गोदामकी ज़रूरत होगी, वे ऐसी जगह होने चाहिएँ जहाँसे कारीगर कच्चा माल आसानीसे ख़रीद ले जायँ और तैयार माल भेज सकें। वहाँसे एक या दो आदमी मालका नमूना लेकर देशमें घूमें और आढ़तियोंको दिखलाकर आर्डर लें। जब काम बढ़ जाय तो देशके भिन्न भिन्न भागोंमें उस गोदाम और दफ़्तरकी शाखाएँ खोली जायँ। दलालोंकी संख्या भी बढ़ा दी जाय। आरम्भमें इसमें १०००), ५००) का ख़र्च निश्चय है—वह कहाँसे आए? मद्रासवालोंने कुछ सालसे औद्योगिक कामके लिए जैसे "दीपावली धनसंग्रह" में सर्वसाधारणसे पैसा दो पैसा चन्दा माँगकर काम शुरू किया है, उसी तरह गृहशिल्पकी उन्नतिके लिए देशभक्तोंसे भिक्षा लेनेमें सङ्कोच नहीं करना चाहिए। इससे देशभरमें छोटी पूँजीवाले कारबारियोंकी दशा सुधर जायगी और वे इस संस्थाके लाभको देखकर खुद भी इसकी सहायता करने लगेंगे। देशसेवाके बहाने आज शिक्षित लोग किस प्रकार अपना बल और उत्साह नष्ट करते हैं किसीसे छिपा नहीं है। यदि इस लेखकके प्रस्तावमें कोई सार है तो सुधारक वीर आज ज़रा इसे भी आजमाएँ।

४.

वाणिज्यमार्ग

भारत ऐसे विस्तृत देशमें भी सड़कें क्या कच्ची या पक्की बहुत ही थोड़ी हैं जिससे इस देशके भिन्न भिन्न प्रान्त और गाँववाले, जहाँके तहाँ पड़े रह जाते हैं। उनके बीच किसी प्रकारका व्यवहार वा समागम ठीक ठीक नहीं होता। वह सौ दो सौकी बस्तीको ही अपनी दुनियाँ मानकर उसके भीतर ५००० वर्षकी पुरानी चाल चला करते हैं। तबसे निरन्तर मनुष्य समाजने मिलजुलकर सुख, सामर्थ्य और ज्ञानकी प्राप्तिमें जो सुविधाएँ उपार्जन की हैं उनसे वे अलग होना चाहते हैं। चाहे इसके पीछे वे "तिमिराच्छन्न" अफ़रीका महाद्वीपके हवशी, जूलू हौटेन-टौट इत्यादि संसारकी पिछड़ी और गिरी हुई जातियोंकी ही गिनतीमें क्यों न रखे जायँ! इसकी परवाह नहीं !!!

भारतके हितचिन्तक होनेका दम भरनेवालोंके श्रीमुखसे यह दलील सुननेमें आती है कि कृषिप्रधान देशोंमें सड़कोंके होनेका प्रयोजन ही क्या है? पहले तो अधिकतासे नाज और सामान बोझ बाँधकर सरपर ही एक जगहसे दूसरी जगह ढो लिये जाते हैं। दूसरे चार पाँच महीने बरसातके दिनोंमें यहाँपर काम भी मन्दा पड़ जाता है, घरके बाहर कहीं आने जाने या कुछ ले आने या ले जानेकी ज़रूरत ही नहीं होती, तीसरे जब फसिल काटने खलिहान लगाने और हाट बाज़ार तक शस्यको पहुँचानेके दिन आते हैं तो उस समयतक नदी, ताल और गड़हियाँ सूख जाती हैं, खेत और मैदानकी पग-

डरिडयाँ, कीच-कर्दम और घास-फूससे साफ हो जाती हैं। फिर आदमी आँख मूँदकर एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जा सकता है। सड़क पटवाने और उसे बराबर मरम्मतमें रखनेका व्यय और परिश्रम क्यों व्यर्थ किया जाय।

ऐसा कहनेवाले यह बिलकुल भूल जाते हैं कि किसी देशमें कृषिके अलावा कुछ और उद्योगधन्धे भी होते हैं और होने चाहिएँ तथा यह भी सम्भव है कि जो कृषिका बाधक नहीं है वह उद्योग धन्धेका बाधक हो सकता है। कृषिके वास्ते नहीं तो उद्योग धन्धेके लिए ही हमें कच्ची, पक्की सड़कोंकी जरूरत है।

भारतमें इस समय, थोड़ी पूँजीसे गृह-शिल्प वा दस्तकारीके रूपमें जो व्यवसाय होता है वह अधिकतर अभी शहरोंमें ही होता है। वहाँपर माल बनानेवालोंके निकट ही उनके ख़रीदार भी होते हैं। यदि हम अब इस कामका गाँवोंमें प्रसार करना चाहते हैं तो हमें देशके सभी छोटे बड़े गाँवों और कसबोंको एक दूसरेसे सड़कोंके द्वारा एक कर देना पड़ेगा। इतना ही नहीं कि गावोंके इर्द गिर्द तीन चार कोसके भीतर कोई कच्ची वा पक्की सड़क जाती हो, वरन् हमारा आदर्श यह होगा कि प्रायः कितनी ही बड़ी वस्तियाँ हों उनके बीचसे होकर सड़कें निकलें, जिनपर बनजारे जगह जगह कच्चा माल लेकर बाँटा करें और फिर कुछ दिनोंके बाद तैयार माल इकट्ठा कर लें। गाँवके बाहर भी सड़क सीधी जाय, नाला, नहर वा खाई, नदीके कारण ऐसा न हो कि तीन चार कोसका चक्कर काटकर जाना पड़े। दिनभरका थका आदमी चाहे वह गाड़ी हाँकता हो, वा सरपर बोझ लादे हो, जिस समय गाँवसे कोस आधकोस निकट

पहुँच जाता है और उसपर भी घूमकर उसे सड़क सड़क जानेके लिए तीन चार घण्टेका लम्बा सफर करना पड़ता है तो उसका साहस छूट जाता है।

इस समय बैल भैंस वा बहँगीपर जो माल लादा जाता है उसमें बहुत समय नष्ट होता है। गाड़ीसे एक दिनकी राह पैदल, तीन दिनमें समाप्त होती है। जो बनजारे गाँवके कारीगरोंके पाससे माल खरीदने चलेंगे, इस तरह देरसे पहुँचेंगे। कारीगरोंके यहाँ माल बना बनाया पड़ा रहेगा। वह उन्हें बेचनेके लिए अलग उत्सुक रहेंगे। वह उनमें अपनी पूँजी अटकाकर तीन चार दिनसे अधिक काम भी नहीं कर सकते। बनजारे उन्हें बाज़ार ले जाकर झटपट बेच डालें तो हाथमें दाम आ जाय।

पर जबतक बहली वा घोड़ा गाड़ीपर दौड़ दौड़ कर मालको बाज़ारतक पहुँचानेका काम न किया जायगा, यह सम्भव नहीं कि बाज़ारके चढ़ते उतरते भावसे पूरा पूरा लाभ उठाया जाय।

इसके लिए केवल पगडण्डी नहीं, चौड़ी सड़क होनी चाहिये, पर यदि वह कच्ची हुई तो उसका होना न होना बराबर ही है क्योंकि उसमें ज़रासा पानी बरसनेपर बड़े बड़े गड्ढे बन जाते हैं और उसमें सूअर, भैंस इत्यादि जानवर लोट पोट कर नहाया करते हैं। यदि पानी कम हुआ तब भी सड़कोंके किनारे यहाँसे वहाँतक बबूलके काँटे कीचड़के साथ ऐसे सन जाते हैं और एक एक आदमीके पैरोंमें प्रायः दस दस सेर मिट्टीके लोये ऐसा चिपकते हैं कि छुड़ाये नहीं छूटते। एक तो लोयोंका बोझ दूसरे काँटोंका मीठे मीठे चुभना, खूब ही मज़ा देता है। इन कच्ची सड़कोंपर गाड़ियोंके अटक

जाने और बोझ लेकर जानवरोंके बैठ जानेका तमाशा भी बहुतोंने देखा होगा !

कभी सड़कोंपर रेत छींट देनेसे, या अरहर, करबीके डंठल, पयाल वा घासकी पूली बिछा देनेसे मिट्टी नहीं धसती और उसपर गाड़ीका पहिया बड़ी आसानीसे लुढ़क जाता है किन्तु जो काम पक्की सड़कसे निकल सकता है वह कच्ची सड़कसे कहाँ निकल सकता है।

इधर पक्की सड़कोंके लिए "डिस्ट्रिक्ट् बोर्ड" के पास इतना अर्थ नहीं होता; जो हुआ भी वह-और और कामोंमें जैसे स्कूल और अस्पतालके स्थापन और कुएँ तालाबकी सफ़ाईमें बट जाता है। उससे कुछ धन बचानेपर सड़कोंके खोलनेके लिए सहायता मिली भी तो एक ही दो मरतबे रोड़ा पत्थर इत्यादि बिछानेमें सब साफ हो जाता है। फिर सड़ककी मरम्मतके वास्ते कुछ बच ही नहीं जाता।

५.

शिल्प-शिक्षा

अभी अपने होशकी बात है। कि हमने देशावरी माल ख़रीद ख़रीद कर अपनी रुचि बिगाड़ डाली। फिर क्या था बाहरी चीज़ोंकी चटक मटकके आगे देशी टिकाऊ वस्तुएँ भी नहीं सुहाने लगीं। जब हम खरीद करते ढूँढ ढूँढ कर विलायती माल। यहाँ तक कि गाँवमें रहनेवाले बड़े आदमी भी दूरके शहर-बाज़ारोंसे साधारण चीज़ें, जैसे सन्दूक,

ताला, कंघी आईना, बूताम, पेचक इत्यादि विदेशी ही मंगवाने लगे थे। इससे देशी कारीगर और मन्दे पड़ गये, उनके हाथकी रही-सही सफ़ाई जाती रही और जो चीज़ें उनके हाथसे उतरतीं वे दिनोंदिन मोटी, भद्दी, रुखड़ी और और मँहगी होने लगीं। यह खेदका विषय समझना चाहिए कि जैसे जैसे हमारे शौक़ीनोंकी नुकताचीनी बढ़ती गयी वैसेही देशी शिल्पकारोंका अनाड़ीपन भी बढ़ता गया। अबसे थोड़े दिन पहले वह मनुष्य बड़ा ही साहस करता जो यह कहता कि कभी इनके दिन भी फिरेंगे। पर भविष्यतकी कौन जानता है? इधर यूरोपीय संग्रामके प्रभावसे हम फिर भी देशी मालकी ओर झुके हैं। विलायती माल से बाज़ार ख़ाली हो रहा था विवश हो कर हमने कहा—"अब क्या किया जाय, चलो, न से हाँ सही। देशी मालकी निकृष्टता आखोंमें बहुत खटकती है, पर केवल चीजोंकी भड़क और खूबसूरतीके लिए कौन तिगुने चौगुने दाम खर्च करे, देशीमालसे काम निकाल लेंगे"।

इस समय मुख्य प्रश्न यह है कि कबतक इस तरह काम चलेगा? हमारे देशमें ऐसे कितने आदमी हैं, जो केवल सादे मोटे मालसे ही सन्तुष्ट रहेंगे? अपनी आवश्यकताकी चीज़ें अपने प्रबन्धसे बनवा लेनेका कष्ट सहन करेंगे? धेला पैसा अपने पाससे देशी सौदोंमें अधिक लगा कर भविष्यतमें भारतवर्षके शिल्प-वाणिज्यकी उन्नतिकी आशा करेंगे? यदि ऐसे सज्जन कुछ हैं भी तो उनके सहारे अधिक दिन नहीं बैठना चाहिये।

अब समय आया है कि हम अपने कारीगरोंको शीघ्र ही सचेत कर दें। उनके सन्मुख भिन्न भिन्न देशोंके अच्छेसे अच्छे मालके नमूने रखें, और उनके काट, रंग, सफ़ाई इत्यादिकी

खूबियाँ बताएँ। भाँति भाँतिके नये नये औज़ारों के व्यवहारसे उनकी तैयारीमें जो आसानी पड़ती है उसका अनुमान कराएँ। यह स्मरण रखनेके योग्य बात है कि परम्परासे हमारे कारीगरोंको जो शिल्पकारीका ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह वर्तमान समयके लिए यथेष्ट नहीं है, पुराने पुराने औज़ारोंसे अब हम लोगोंके पसन्दकी चीजें नहीं बन सकतीं और यदि बनीं भी तो उनसे बनानेवालेको लाभ नहीं होगा। पुराने निकम्मे औज़ारोंसे जितनी देरमें एक चीज़ तैयार होगी, बढ़िया औज़ारसे चार बनेंगी। इसलिए जो कारीगर अपने ग्राहकोंको प्रसन्न रखना चाहता है और उनके हाथ अपना माल बेचना चाहता है उसे सब कामोंके लिए, अलग अलग, छोटे बड़े, सब तरहके बढ़िये औज़ार, देश विदेश जहाँसे मिलें, चुन चुन कर इकट्ठा करना चाहिये।

अब वह दिन नहीं रहा जब कारीगर छोटी छोटी चीजोंके बनानेमें छः महीने जान लड़ा कर अपने शिल्पकी अपूर्वताका परिचय दिया करते थे। अब कलकी बनाई चीज़ें इतनी फैल रही हैं कि उनमें और हाथकी बनाई वस्तुओंमें कोई अन्तर देखनेवाला ही नहीं। ऐसी दशामें कारीगरोंके हुनरकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। वास्तवमें औज़ारोंकी प्रशंसा होनी चाहिये। जिसके पास जितने अच्छे काटके औज़ार होंगे उसके कारख़ानेसे उतना ही सुडौल और सुथरा माल निकलेगा। पर केवल औज़ार पास होनेसे ही कुछ नहीं होता। उनका प्रयोग भी जानना चाहिये।

कलकत्ता, बम्बई और मद्रास इत्यादि बड़ी जगहोंमें थोड़ेसे कारीगरोंको इन औज़ारोंका ढंग मालूम होने लगा है। वे क्रमशः अपने पेशेवालोंके बीच उनका प्रचार कर

रहे हैं, पर अन्यत्र भी गाँव और नगरोंमें बाप-दादेके समयके टूटे फूटे औज़ारोंका व्यवहार करना भी कठिन हो जाता है। इसका कारण यह है कि छुटपनसे ही कारीगरके लड़के काममें जोत दिये जाते हैं। उन्हें साक्षर और शिक्षित बनानेकी आवश्यकता ही नहीं समझी जाती, फलतः उनकी बुद्धिका विकास नहीं होने पाता, जिससे अपने बाप-चचाकी कलाकी नकल उतारनेमें ही उनके दिन जाते हैं। उसमें वह स्वतन्त्ररूपसे कोई सुधार या उन्नति नहीं कर पाते। इस प्रकार अन्तमें देशके शिल्पमें कोई जान बाकी नहीं रहती और एक ही साँचे और ढरेंपर माल उतरने लगता है। उन्हें ख़रीदनेवाले ग्राहक नहीं मिलते। मुनाफ़ेकी कौन कहे, लागतभी नहीं निकलती। इससे उनके पास अपने पुराने औज़ारोंको भी दुरुस्त रखनेके लिए पैसा नहीं बचता। शिल्पकारीका यहीं अन्त समझिये।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय उद्योग और वाणिज्यके लिए हमें भविष्यतमें कारीगरोंको अच्छी शिल्पशिक्षा प्रदान करनेका प्रबन्ध करना होगा। जो अपना गाँव छोड़ नहीं सकते उनके लिए हमें अच्छे अच्छे मिस्त्री और उस्तादोंकी एक पर्य्यटक मण्डली (Peripatetic master artisans) बनाकर गाँव गाँव और कसबे कसबे भेजनी चाहिए। ये उस्ताद अपने साथ नये ढङ्गके सब औज़ार लेते आएँ और उनसे काम करके गाँवके कारीगरोंको अच्छी तरह बतलाएँ, जिससे वह समझने लगें कि उतनी ही मिहनत और ख़र्चसे बढ़ियासे बढ़िया माल बनाया और उसकी बिक्री बढ़ाकर भरपूर लाभ उठाया जा सकता है।

अपने इलाक़ेके भीतर पढ़े लिखे लोग कारीगरके बच्चोंको

चुनकर चार छः महीनेके लिए ऐसे स्थानोंमें, जहाँ उन्हें शिल्प-शिक्षाका अच्छा अवसर मिल सके, भेजनेके लिए उत्साहित किये जा सकते हैं। उनके माँ बापको यह समझाया जा सकता है कि इतने ही दिनोंकी शिक्षासे उनके लड़कोंकी आय जीवनपर्य्यन्तके लिए दुगुनी तिगुनी हो जायगी और आगे विशेष उन्नतिकी आशा भी हो सकती है। इसमें केवल कारीगर जातिवालोंकी ही कोई कैद नहीं है, मध्यम श्रेणी-वालोंके लड़के भी अपनी जीविका कमाकर अपनी बहुत कुछ अवस्था सुधार सकते हैं।

अधिक नहीं, एक "फिटर" के वेतनको लीजिये। वह ३०) या ४०) बँधे हुए मासिकके अतिरिक्त प्रतिदिन सहजमें ही ।=) ॥) का ऊपरसे काम बना सकता है। लड़का होशि-यार हुआ तो ३ सालके भीतर, दिनके कामके लिए ५०) या ६०) और "एक्स्टरा टाइम" के लिए १०) या १५) पा सकता है। कोई बड़ी कम्पनी हुई तो इससे भी अच्छी रकम बना सकता है।

क्या यह किसी दफ़्तरके "बाबूसे" जो दस बारह सालतक २०) या ३०) पर छः घण्टे मेज़पर झुके रहते हैं कम सुखी और सम्पन्न रहेंगे। यदि कहिये प्रतिष्ठाकी बात, सो भी "जिसके हाथ दाम उसीका नाम"। अब क्लर्ककी स्थिति या दर्जेमें क्या रखा है? अस्तु हमें अब शिल्पशिक्षा पानेका अव-सर ढूँढ़ना चाहिए और इसका ध्यान रखना चाहिए कि किसी जाति वा कुलका लड़का पढ़नेमें मन नहीं लगाता तो उसके घरवालोंसे सलाह करके उसे व्यवहारकी ओर प्रवृत्त कराया जाए।

६.

छोटी पूँजीके कारीगरोंके लिए सहकारिता

यदि आप उस कानूनको उठाकर देखें कि जिसके आधारपर सहकारी समितियोंका (co-operative banks) सङ्गठन हुआ है तो आपको यह जानकर बड़ा ही अचम्भा होगा कि केवल ऋणी कृषकोंको ही बनिये, महाजनोंके उपद्रवसे बचानेके लिए सहकारिताकी प्रणाली नहीं चलाई गयी है। कृषकोंके दुःखशमनके साथ थोड़ी पूँजीके कारीगरोंको भी सहायता प्रदान करना उसके उद्देशोंमें सम्मिलित है। परन्तु आजकल कृषकवर्गकी आर्थिक और सामाजिक अवस्था सुधारनेमें "सहकारिता" के सिद्धान्तका जितना प्रयोग किया गया है, उतना इस देशमें छोटे शिल्पी और श्रमजीवियोंके क्लेश और कठिनाइयोंको दूर करनेका प्रयत्न नहीं हुआ है।

पत्र, पत्रिकाओंमें जहाँ तहाँ आप सहकारी बंकोंकी सफलताका शुभ संवाद सुना करते होंगे परन्तु खेद है कि इस सफलता से हमारे विपद्ग्रस्त कारीगरों और छोटे व्यापारियोंकी दशामें कोई विशेष हेर फेर नहीं हुआ है।

अपने देशमें सहकारिताकी वृद्धि और प्रसारके सूचक अंकोंपर जब आप दृष्टिपात करेंगे तो क्या देखेंगे कि एक ओर कृषकोंसे सम्बन्ध रखनेवाली समितियाँ १९१३–१४ सालके अन्तमें १३८८२ थीं और इतर समितियाँ केवल ६८४ ! इसके अतिरिक्त यदि आप थोड़ी देरके लिए उन सहकारी समितियोंकी संख्याका अनुसन्धान करें जो ऋणके रूपमें नगद

रुपये देकर नहीं काम करती थीं वरन् नगर वा कसबोंमें गल्लापातीको छोड़कर और और चीज़ोंकी खरीद बिक्री, मालकी तैयारी और बिक्री इत्यादिमें सुविधा देती थीं अर्थात् जिनका लक्ष्य देशके उद्योग धन्धोंको उत्तेजित करना मात्र था तो आपको भारतवर्ष भरमें केवल ८२ ऐसी समितियाँ मिलेंगी !

यहाँपर इन दोनों पक्षोंके उल्लेखसे यह कभी अभिप्राय नहीं है कि हमारे कृषकोंकी गति वैसी शोचनीय नहीं है वा उनके उद्धार करनेकी चेष्टा कुछ कम महत्त्व रखती है। वक्तव्य इतना है कि हम एकके दुःख-निवारणमें तत्पर होकर दूसरेकी सुधि नहीं भूलने पायें। कारीगरोंका समूह हमारे समाजका एक पृथक् अङ्ग है और सम्भवतः कृषकोंके सुख और समृद्धिका उनपर कोई परोक्ष प्रभाव न पड़े। इसलिए कारीगरोंकी ओर बहुत दिनोंतक उपेक्षाभावसे देखना हमारे लिए बुरा होगा।

कृषकोंके बीच सहकारी संस्थाओंके प्रसारका एक यह भी कारण हो सकता है कि पहले पहल सहकारिताका सूत्रपात विशेषकर दुर्भिक्ष-पीड़ित और ऋण-ग्रस्त कृषकोंके उद्धारके निमित्त ही हुआ था। इसका दूसरा कारण यह भी सुननेमें आता है कि सरकार इस बातसे बहुत सशङ्क है कि भारतवासियोंको सहकारिताका उद्देश्य जबतक अच्छी तरह समझमें न आ जाय, बाहरसे इस कार्यको विस्तार देना ठीक नहीं है। इससे बहुत दिनोंके लिए उन्नतिका मार्ग रुद्ध हो जानेका भय रहता है।

इस स्थलपर छोटी पूँजीके कारीगरोंके बीच ("artisans of small means" co-operative act) सहकारिताका

प्रयोग न होनेकी उपरोक्त दो कठिनाइयोंपर थोड़ा विचार किया जाय तो कहना पड़ेगा कि यद्यपि दुर्भिक्ष एक ऐसी घटना है जिसके भीषण कष्ट हम लोगोंको चार पाँच सालमें कभी देखनेमें आते हैं तथा कृषकोंको ऋण कष्टसे मुक्त करनेमें अकेले सहकारितासे काम न चलेगा वरन् लगानके कानूनके (tenancy act) सुधारकी भी ज़रूरत होगी और इसमें बीसों साल लगेंगे। इधर कारीगरोंके स्थायी दुःख दारिद्र्यसे न केवल उन्हींका नाश हो रहा है वरन् उनके साथ शिल्पकलाके लोपसे हमारे दैनिक जीवनकी आवश्यक व्यवहारिक वस्तुएँ महँगी होती जाती हैं और इस तरह प्रति वर्ष हमें इस मदमें जितना ख़र्च करना चाहिए उससे अधिक ख़र्च हो जाता है।

हम यह स्वीकार करते हैं कि सरकारी कोषमें इतना धन नहीं कि विशेषरूपसे हमारे शासक धन लगाकर उद्योग धन्धोंकी वृद्धि करें, परन्तु सरकारी निरीक्षणमें स्वयं कारीगरोंके सङ्गठन द्वारा "संहतिः कार्य साधिका" के नियमपर उनके अल्प और बिखरे हुए व्यक्तिगत धन, बुद्धि और प्रबन्ध करनेकी क्षमताका अच्छा उपयोग कराया जा सकता है। पूँजीके निमित्त आजकल हमारे शिल्पी कारीगर बनिये साहूकारोंके हाथ सदाके लिए बिके रहते हैं। ४० और ५० रुपये सैकड़ा सूद देकर ऊन, रेशम, सूत और रंग इत्यादि उधार लाते हैं। जिन्दगीभर सूद चुकाते रहते हैं पर कभी उनसे निस्तार नहीं पाते। महाजनोंके अन्यायसे उनकी कमर ऐसी टूट जाती है कि उनसे फिर काममें पूरा परिश्रम नहीं हो सकता। जैसे तैसे निराशामें दिन काटते और अपने शिल्पको बिगाड़ डालते हैं।

माल तैयार होनेपर दूकानदार भी रुपयेकी जगह आठ आने देकर उन्हें खूब ठगते हैं। कभी कभी पहलेसे ही वे उनके ऋणी होते हैं; जो कुछ बना पाते हैं झक मारकर उन्हें सौंपना पड़ता है। उन वस्तुओंके आधे तिहाई दाम लगाकर कुछ तो ऋणमें काट लिया जाता है कुछ खानेके लिए नगद मिलता है। उससे पेट पालना ही कठिन हो जाता है, अपने औज़ारको दुरुस्त करके बढ़िया काम बनानेकी फ़िकर कौन करता है!

मिस्टर हरलेकर और देवधरने कारीगरोंकी पीठसे इन विपदोंका बोझ कुछ हलका करनेके हेतु सहकारी समितियों-के द्वारा बम्बई प्रान्तमें थोड़ी बहुत सुविधा की है। अब ज़रूरत इस बातकी है कि उसी आधारपर सार्वजनिक सभायें और व्यवसाय-कुशल उत्साही पुरुष देशभरमें कारीगरोंको सहायता प्रदान करनेकी चेष्टा करें, जैसे कि छोटे व्यवसाय वालोंको ज़रूरी जिन्स बड़े आढ़तियोंसे किफ़ायतपर ख़रीद-कर दे दी जाय और जब वह काम बनाकर बेच लें तो उनसे रुपये वसूल कर लिये जायँ। जिन दिनों काम मन्दा पड़ जाता है, खाने पीने, शादी ब्याह और रसमके वास्ते भी उचित सूदपर उन्हें रुपया मिल सके, कच्चा माल ख़रीदने वा करघे और औज़ारकी मरम्मतके लिए आसानीसे रुपये मिल जायँ। नगर वा गाँवमें किसी नियत स्थानपर समि-तियोंकी ओरसे कारीगरोंके मालकी दूकान लगा दी जाय और यदि उनके बिकनेमें देर हो तो तबतक रुपये अधेली पेशगी ख़र्चके लिए मिले और आगे काम बनानेमें कोई बाधा न पड़े, अर्थात् नया माल तैयार करनेके लिए कच्ची जिन्सकी भी कमी न हो। चमार, जुलाहे, रंगरेज़, जिल्दसाज़, ठठेरे,

बढ़ई, लोहार सबके व्यवसायके लिए अलग अलग समितियाँ बनाकर उनके निजके संगठनसे बाहरी धूर्त दलाल, तथा लोभी पैकार और ग्राहकोंका अत्याचार रोका जाय। फिर आशा यह है कि नियमपूर्वक और मुस्तैदीके साथ कठिनाइयों-का मुकाबला करनेपर कोई न कोई रास्ता निकल ही आता है।

७.

व्यापारिक संरक्षण

युद्धके समयकी तो कोई बात ही नहीं, वैसे भी राज-नीतिज्ञोंकी अब यह सम्मति है कि बाहरसे आये हुए मालपर बिना महसूल लगाये और महँगा किये, अपने देशकी शिल्पकला और उद्योग-धन्धोंको पुनर्जीवित और उन्नत करना असम्भव सा है। इसका कारण यह है कि प्रायः व्यवहारकी बहुत सी चीज़ें जो देशके अन्दर भी बड़ी आसानीसे सस्ती बन सकती हैं इस समय दूसरे देशोंसे ही मँगवानेमें किफ़ायत पड़ती हैं और वह इसलिए कि उन देशोंने सुयोग पाकर अपना माल बिदेशोंमें फैला रखा है और अब उनका कारबार पुराना हो गया है जिससे चीज़ोंकी तैयारीमें बहुत कम ख़र्च बैठता है और दूसरे देशवाले उस व्यापारमें उनके प्रतिद्वन्दी नहीं हो सकते।

विपद यह है कि इस बीचमें जब और और देशोंमें यह उद्योग नष्ट हो जाता है तब देश मनमाना चीज़ोंका मूल्य बढ़ाकर दूसरे देशोंको लूटनेकी फ़िकर करते हैं। बस इसी

भयसे दूर होनेके मिसिस अपनी सम्पत्ति सहेज़ कर जहाँतक सम्भव हो प्रत्येक जाति वा राष्ट्रको अपने ही देशमें सब उद्योग-धन्धोंकी व्यवस्था करनी पड़ती है। परन्तु खेद यह है कि व्यापारिक लाग-डाँटमें जब एक जाति आगे बढ़कर सबल हो जाती है तो पिछड़ी हुई और निर्बल जातिके लिए अपना उद्योग बिना किसी बाहरी अवलम्बके सम्हालना कठिन हो जाता है और इसका मूल कारण है दोनोंकी अवस्थामें असमानता।

कोई समझदार आदमी सधारणतः किसी दुधमुँहे लड़के और जवानकी बेमेल कुश्तीकी बात नहीं चला सकता। परन्तु, औद्योगिक क्षेत्रमें हम बिना सोचे समझे कह डालते हैं कि खुली प्रतिद्वन्द्विता सबसे श्रेष्ठ नीति है। किसी उद्यमको बाहरी सहारा देकर खड़ा करनेकी ज़रूरत नहीं है। खुले मैदान संसार भरके उद्यमोंको स्पर्धा करने दो, जिसमें सबसे अधिक क्षमता होगी वह टिकेगा, बाकी आपही नष्ट हो जायँगे। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस देशको किसी मालके बनानेमें अधिक सुभीता है और इस कारण जो दूसरे देशवालोंको सबसे सस्ता माल दे सकता है, उसीसे व्यवहार करना और माल खरीदना चाहिए। अवश्य इस बातसे सतर्क होना चाहिए कि हम व्यर्थके जातीय गर्व वा अन्य दुराग्रहमें पड़कर अपनी शक्ति और पूँजीका अपव्यय न करने पावें।

यह तो हुआ, परन्तु ध्यान देकर देखनेपर इस समय ऐसे बहुत कम देश मिलेंगे जिन्होंने कलबलसे दूसरी जातियोंको दबाकर, धमकाकर, उनके विपत्तिकालमें धोखे घड़ीसे उनपर छापा मारकर, कूटनीति और अन्यायका बिना संकोच प्रयोग करके अपना शिल्प-व्यापार न बढ़ा लिया हो।

सच बात यह है कि जैसे भी बना उन्होंने सबके आगे अपना औद्योगिक झण्डा बढ़ा रखा है और अब अपनी प्रतिष्ठाके ढोल पीट पीटकर कहने लगे हैं कि बस इन पदार्थोंके बनानेवाले भूमण्डलपर अकेले हम ही तो हैं।

ऐसी स्थितिमें "वसुधैव कुटुम्बकम्" इत्यादि आध्यात्मिक सूत्रोंका दुरुपयोग कर निरपेक्ष रूपसे विदेशी व्यापारियोंसे सम्बन्ध करना कुछ बुद्धिमत्ताका परिचय देना नहीं है। जो पुरुष अपनी जाति या राष्ट्रकी सेवामें उदारता और सहृदयता को चरितार्थ नहीं करता वह परदेशी व्यापारियोंका हित-साधन क्या करेगा. उसी तरह जो अपने पड़ोसियों और नगर-वासियोंके जीवनके साथ अपना जीवन नहीं मिला सकता और उनके सुखदुःखमें अपना सुखदुःख नहीं मानता वह समग्र जाति या राष्ट्र के साथ क्या समवेदना प्रकट करेगा? इसलिए युक्ति संगत क्रम है पहले जातीयता उसके पश्चात् अन्तर्जातीयता।

इस कारण प्रत्येक जातिका यह धर्म समझा जाता है कि वह अपने देशमें किसी उद्यम विशेषको चलानेका पूरा अवसर दे और उचित चेष्टा करे, उसपर भी असफलता हो तो समझे कि इसके लिए यहाँ गुञ्जाइश नहीं। ख़ैर यह हाल उन देशोंका है जहाँकी जनता और सभ्यता बिलकुल नयी है और जो संसारकी व्यापारिक मण्डलीमें पहले पहल प्रवेश कर रहा है।

यदि भारतवर्षजैसे देशकी चर्चा हो तो कहना ही पड़ेगा कि हमारा विस्तृत और प्राचीन भारतवर्ष असंख्यों शिल्प-कला और उद्यमोंका केन्द्र रहा है। यद्यपि बहुत अंश उसका लुप्त हो गया है, तिसपर भी उसके जो अवशिष्ट चिह्न मिलते

हैं वे इस बातके प्रमाण हैं कि इस समय भी कितने ही अंशोंमें भारतीय शिल्प और उद्योग अपूर्व और अप्रतिम है। बस थोड़ा सा अवलम्ब मिलनेकी देर है कि वे आप ही पूर्ववत् पुष्ट और उन्नत हो जायँगे।

परन्तु यहाँपर देखना यह है कि इस अवलम्बका क्या अर्थ है। जिस अवलम्बकी ज़रूरत है वह शिल्पकारों और व्यवसायियोंको किस रूपमें मिलना चाहिए। इसके उत्तरमें कुछ तो पूँजीके प्रबन्ध करनेकी ज़रूरत मालूम पड़ेगी। कुछ अच्छे उस्ताद और मिस्त्री जोहनेकी और कुछ सरकारसे कच्चे माल और औज़ार इकट्ठा करनेमें सुभीता प्राप्त करनेकी आवश्यकता होगी। पर सबसे प्रधान प्रसङ्ग जिसपर हम यहाँ ज़ोर डालना चाहते हैं यह है कि हम अपने देशकी आर्थिक नीति कुछ इस प्रकार मोड़ दें कि घरके उद्योग-धन्धोंसे बने हुए मालकी बिक्री बढ़े और देशी शिल्पका ही प्रसार हो। इसके लिए दो मुख्य साधन हैं। एक तो सरकारी सहायता या अपनी सुव्यवस्थाके द्वारा अभीसे सस्ता माल तैयार करें, या कुछ दिनोंके बाद (जैसे साल वा दस सालकी अवधिके बाद) देशी मालके आप ही आप सस्ता हो जानेकी आशासे इतने दिनों हम महँगे देशी माल खरीदा करें। परन्तु यह तो एक मोटी बात है कि जनसाधारणमें इतनी दूरदर्शिता नहीं हो सकती कि वह भविष्यतके लाभके लिए वर्तमानमें हानि उठाये। ऐसी द्विविधामें देशके राजनीतिज्ञ मुखियों और शासकोंकी रायसे विदेशी मालपर महसूल लगाकर जान बूझकर देशी मालकी अपेक्षा विदेशी मालको मँहगा और त्याज्य बना डालना बुरी नीति नहीं हैं। हाँ, स्वदेशीके नामपर कुछ धूर्त और लम्पट रोजगारियोंको स्वार्थ-

वश गड़बड़ मचाते देखकर बहुधा लोगोंके मनमें भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक होगा और ऐसे लोग हमारी सारी औद्योगिक नीतिको ओछी और दोषपूर्ण बनाकर हम लोगोंको निश्चय बुरा भला कहेंगे, पर इसका कोई प्रतीकार नहीं है। जब एक दिन हमारे घरके उद्यम पनपने लगेंगे, जब उनमें लाखों करोड़ों मनुष्योंको जीविका मिलने लगेगी, दिनोंदिन हमारे श्रमजीवियोंकी बल, बुद्धि और व्यावहारिक कुशलताकी वृद्धिसे घने सस्ते और चोखे मालके हमारे बाजारों और दूकानोंमें ढेर लग जायँगे तब हम भी अपने विरोधियोंसे बाजी लगा लेंगे। जो हमारे पूर्वपुरुषोंने बिना रेल, तार, डाक, केब्ल और स्टीमरके ही किया क्या वह इन साधनोंके होते हुए भी नहीं कर सकते। मुर्शिदाबादके रेशम और ढाकाके मलमलकी गठरियोंसे लदी नौकायें केवल डेढ़ सौ वर्ष पूर्व वेनिस और लन्दनके बन्दरगाहोंमें तैरती फिरती थीं तो अब हमलोग क्या पूर्वी अफ्रीका और आस्ट्रेलियातक भी नहीं पहुँच सकेंगे।

८.

गाँवोंका जीर्णोद्धार

गत वर्ष बंगालके गवर्नर लार्ड रोनाल्डशेने एक व्याख्यानमें अपने प्रान्तके गण्यमान्य लोगोंको यह समझानेका प्रयत्न किया था कि देखिये, आपके गाँव उजड़े जाते हैं, उन्हें फिरसे बसाइये, नहीं तो, आपके देशवासियोंमें

९० फी सदी जो अभीतक गाँवोंको ही किसी न किसी तरह अपनी सुख-सम्पत्ति, मान-मर्यादाके केन्द्र समझते आते हैं उनसे विरक्त होकर इधर उधर भटकने लगेंगे। सम्भव है, ये धनके लोभ और विलासकी आसक्तिके पीछे नगरोंमें पहुँचकर अपना स्वास्थ्य बल और आयु गँवा बैठेंगे। इतना ही नहीं यह भी भय है कि वे अपनी ग्रामकुटियोंको शून्य और निरुद्यम बनानेके साथ साथ सारे देशमें निर्जीवता और निरुत्साह फैला दें।

हमें खेदके साथ कहना पड़ता है कि लार्ड रोनाल्डशेकी शंकायें बिलकुल निराधार नहीं थीं। बहुत दिन हुए जब हमारे गाँवोंकी दुर्गति पराकाष्ठाको पहुँच गयी। अब चारों ओरसे हम लोगोंको केवल ग्राम-जीवनके कष्ट, विपद और ग्रामसमाजकी हीनता और शिथिलताकी कहानी सुननेमें आती है।

और क्या कहा जाय, वेही स्थान जो कुछ दिन पहले अपने अप्रतिम जल-वायु, मनोहर प्राकृतिक शोभा और स्वच्छन्द आमोद-प्रमोदके कारण दूरसे ही लोगोंके मन लुभाते थे अब रोग, शोक, आलस्य, अकर्मण्यता और पारस्परिक विरोधके जमघट बन गये हैं।

दूसरोंकी कौन कहे, हमारे शिक्षित भाई भी गाँवके नामसे 'त्राहि त्राहि' करते हैं। कहीं भूले भटके नातेदारी और बिरादरीके सम्बन्धमें जा पहुँचे तो भी दो ही चार दिनोंमें उनके प्राण ऊँट जाते हैं, वे ग्राम-जीवनकी शुष्कताकी निन्दा करते करते नहीं थकते। वहाँ न समयपर उनकी चिट्ठियाँ आती हैं, न समचार पत्र पढ़नेको मिलते हैं, बल्कि साहित्य, राजनीति, सामाजिक प्रश्नोंपर विचार करनेमें समर्थ मित्रमण्डलीका भी

अभाव रहता है, वहाँ स्त्री-बच्चोंकी चिकित्साके लिए कुशल डाक्टर नहीं, परिवारकी सुख-सामग्रीके लिए बाज़ार नहीं, लड़के लड़कियों की शिक्षाके लिए विद्यालय भी नहीं होते।

आयें कहाँ से ? वहाँ तो गाँवके भीतर चतुर और योग्य पुरुषोंमें से कोई ठहरता ही नहीं। इनकी व्यवस्था कौन करे ! गाँवके अन्तर्गत कोई ऐसा कार्य नहीं रहा जिसमें सूक्ष्म-बुद्धिमान् और पराक्रमी मनुष्यका काम पड़े। कृषिके कामके लिये—विशेष कर जैसा हमारे यहाँ कृषिका कार्य्य होता है—पुरानी लीक पीटनेवाले खेतिहर बहुत हैं। जोतने—कोड़ने, बोने काटनेका भार मज़दूरोंपर और लगानके तहसील-वसूलका ज़िम्मा गुमाश्ते-कारिन्दोंपर सौंपकर ज़मींदार अलग हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि शहरके नाच-रंग और चहल-पहलको छोड़कर गाँवकी नीरसता और उदासीमें कौन जीवन नष्ट करे। इस प्रकार ज़मींदारोंसे और ग्रामवाससे नाममात्रका ही सम्पर्क समझिये। रहे अमले और कारिन्दे। उन्हें लूट-खसोट मचानेसे कब फुरसत मिलती है जो गाँवोंका भला चाहेंगे। फिर बताइये, गाँवोंको चित्ताकर्षक और सुन्दर कौन बनावें।

थोड़ा विचार करनेसे मालूम होगा कि भारतीय गाँवोंकी यह अधोगति सौ वर्षसे इधरकी है। इसके पूर्व प्रत्येक गाँवकी स्थिति स्वतन्त्र थी। उनके भीतर जो कुछ कृषि, वाणिज्य और शिल्प इत्यादिका काम होता था वह प्रधानतः अपने गाँवके निवासियोंके लिए ही होता था। जब उनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिसे कुछ बचता था वही बाहरवालोंके हाथ बेंचा जाता था।

अब पटरी उलट गयी है। गाँववालोंके सारे परिश्रम और उद्योगसे नगरवालोंकी श्री-समृद्धि होती है।

गाँवोंकी उपजमेंसे अच्छे अन्न और फल शहरवाले ख़रीद लेते हैं बाकी दलिया, कुराई और भूसी गाँववालोंके हिस्से रह जाती है। इसमें आश्चर्य्य कुछ नहीं है। गाँव तो नगरके सेठ-साहूकार और वकील-मुख़्तारोंके "इलाके" माने जाते हैं। उनसे फसल पीछे अधिकाधिक रुपये आने चाहियें, गाँवके वास्तविक निवासियोंकी अवस्था चाहे जैसी रहे।

आशय यह है कि गाँवोंकी सुदशा और कुदशा पर विचार नहीं हो सकता। वे नगरोंके आश्रित उपकरण मात्र हैं, नगरोंके हित और कल्याणके साधन स्वरूप हैं। स्पष्ट शब्दोंमें गाँववाले नगरवालोंके गुलाम हैं। रोम साम्राज्यवाले जैसे आप नगरोंमें बैठे मजे उड़ाते थे और बाहरके प्रान्तोंमें उनकी पराजित प्रजा उनके लिए खेती करती थी उसी तरह आज भारतमें भी भद्र नागरिकोंके लिए गँवईके गँवार पसीना चुआकर अन्न द्रव्यका संचय करते हैं। सोचिये, यह कितनी बड़ी अनीति है। पर इसके विरुद्ध कोई कुछ कहनेवाला नहीं है। कोई इसका प्रतीकार नहीं सोच निकालता।

भला समाजके एक अङ्गको दूसरे अङ्गपर न्योछावर कर देना और उसमें भी बड़ेको छोटेपर, क्या दूरदर्शिता है ? अब वे दिन आये जब एक एक अवयवकी दृढ़तापर ही सारे समाजका बल और महत्व समझा जाता है। फिर क्यों नहीं छोटेसे छोटे गाँवका यह अधिकार हो कि वह किसी दूसरे बड़े कसबे वा नगरका आधिपत्य न मानकर अपनी सुविधा और हितके लिए अपनी औद्योगिक और आर्थिक शक्तियोंके संचालनका क्रम निर्धारित करे।

हमारे एक ज़िले के अन्तर्गत कितने ही ऐसे गाँव होंगे जिनकी आबादी तीन चार हज़ारकी होगी। गज़ेटिअर उठाकर देखिये तो कितने ही ज़िलोंमें ऐसे ५,६ गाँव है। यदि उनमेंसे प्रत्येक गाँवके निवासियोंके हृदयमें अपना अलग बाज़ार, धर्मशाला, विद्यालय और अस्पताल खोलनेकी आकांक्षा उठे और उसे वे प्रकट करें तो सुननेवाले सहज हीमें हँस पड़ेंगे। पर हम आपको अमरीकाके असंख्यों स्वतन्त्र गाँवोंमेंसे केवल एक का उदाहरण देते हैं जो छोटा होता हुआ भी परवशताके जटिल रोगसे मुक्त है। गाँवका नाम पेल्ला है। यह इजोवा प्रान्तमें है। इसकी आबादी सिर्फ ३३०० है तिसपर भी इसके भीतर ८ धर्म मन्दिर हैं, १ हाई स्कूल और १ कालेज हैं, दो मिडिल स्कूल भी हैं। पीनेके जलकी कल वर्तमान है। गँदला पानी और मल मूत्र बहाले जानेके लिए नीचे नीचे गहरी मोरियाँ हैं। गाँव भरमें बिजलीकी रोशनीका प्रबन्ध है। घर घर बातचीत करनेके लिए टेलीफोन-के तार लगे हैं। हुण्डी-पुर्जा और नगद-उधार लेनेदेनके लिए ४ महाजनी कोठियाँ हैं। ११ कल-कारखाने वा पुतलीघर हैं। गाँवके बीचसे एक रेलकी सड़क भी गयी है।

इसपर हमारे पाठक कहेंगे कि यह आयोजन करे कौन? गाँव में बड़े आदमी टिकें तो सब हो। धनाढ्य और प्रभुता-शाली पुरुष मरुभूमिमें अलकापुरी बसा सकते हैं, गाँवका बसाना तो बहुत आसान है। पर यहाँपर हम फिर भी भूलते हैं। केवल हिन्दू राजाओं और मुग़ल बादशाहोंके समयमें जहाँ दरबार लगता था वहीं शहर भी बसता था। कभी कभी प्राचीन मन्दिरों और तीर्थस्थानोंके कारण भी नगरोंकी उत्पत्ति होती थी। परन्तु आधुनिक कालमें बड़े बड़े हाट

बाज़ार और औद्योगिक केन्द्रोंके ही सम्बन्धमें नये शहर बसते देखे गये हैं। कहींपर गुड़की तैयारी बहुत हुई, कहींपर तेलहन इकट्ठा हुआ, कहीं तम्बाकू कूटा गया, कहींसे सन-पटुएकी निकासी हुई बस वहाँपर गाँवसे कसबा और कसबेसे शहर बन गया।

रेल खुल जानेसे, वाणिज्य व्यापारकी वृद्धिसे और कल कारखानोंके सूत्रपातसे देखते ही देखते पंजाब, संयुक्त प्रान्त और बंगालमें ऐसी ऐसी जगहोंमें शहर बस गये हैं जहाँपर एक छोटे गाँवके होनेकी भी संभावना न थी।

डिस्ट्रिक्टबोर्डकी ओरसे रेल खुलनेमें तो कुछ देर है, नहीं तो दूर दूर बिखरे हुए गाँवोंमें जान आ जाती। तबतक गाँवों-के अन्दर छोटी पूँजीके उद्योगोंसे ही बहुत कुछ आशा की जा सकती है। जहाँपर ऐसे व्यवसायकी व्यवस्था की जायगी वहाँ-की जनसंख्या शीघ्र ही बढ़ने लगेगी, लोग सब तरहसे सम्पन्न दिखलाई देंगे, उस स्थानका सूनापन जाता रहेगा।

एक बात ज़रूर है। जिस गाँवमें जिस सामग्रीकी विशेषता और बाहुल्य हो वहाँपर वैसे ही मालकी तैयारीका प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे कुछ कालके उपरान्त प्रत्येक गाँवमें एक औद्योगिक व्यक्तित्व आ जाय अर्थात् किसी एक वस्तु विशेषके बनानेमें वह ग्राम एक हो। फिर देखियेगा कि जबतक उसकी यह एकता रहेगी आस पासके गाँवोंमें उसका नाम रहेगा, और और प्रान्तोंके व्यापारी भी वहाँ आकर घर बनायेंगे, पूँजी लगायेंगे, कारबार फैलायेंगे। निदान शिल्प और उद्योग-के सहारे भारतका एक बहुत बड़ा सामाजिक रोग अर्थात् गाँवोंका उजाड़ होना सफलता पूर्वक रोका जा सकता है।

१०

गृहशिल्पके प्रति निर्मूल आपत्तियाँ

कितने भले आदमी अब भी हमें समझाया करते हैं, कि भारतवासी होकर यदि अपने पुराने अनुभवोंसे कुछ भी काम लेना चाहते हो तो फिरसे छोटे व्यवसाय अथवा गृहशिल्पका नाम न लो। इसका वे कारण भी बताते हैं। वे कहते हैं कि पिछले पचीस वर्षोंमें इस देशके शिल्प-वाणिज्यका ह्रास केवल दो ही तीन कारणोंसे हुआ है। प्रथम तो आरम्भसे इस समयतक हमारे उद्योग लघु-आयतमें ही होते आये, दूसरे बहुत थोड़ी पूँजीसे अलग अलग हम कार-बार करते रहे हैं, तीसरे कल और "मशीन" के प्रयोगसे शिल्प-उद्योगमें हमने कोई सुविधा नहीं प्राप्त की और चौथे भाफ और बिजलीके आविष्कारसे भी हमने कोई लाभ नहीं उठाया। इसीलिए यह निश्चय हो गया है कि आज कहीं कहीं पर हाथसे काम बनानेवाले जो कारीगर मिलते हैं, वे भी कुछ दिनोंमें नहीं बचने पायेंगे, केवल बड़े बड़े कल-कारखाने ही देखनेमें आयेंगे। ऐसे सज्जन लार्ड कर्ज़नका वचन उद्धृत करते हैं कि "जैसे कुछ दिनोंमें हाथसे पंखा खींचनेकी प्रथाका उठ जाना तथा उसके स्थानपर बिजलीके पंखोंका व्यवहार होना निश्चित है वैसे ही छोटे व्यवसायोंके स्थानमें बड़े कल-कारखानोंका खुलना भी अवश्यम्भावी है।" सर जान हुएटने भी आये दिन, आदर्श भारतका जो चित्र खींचा है उसमें देश भरमें कारखानोंकी चिमनी और उसके धुँएकी ही बहुता-

यत है। भारतमें "औद्योगिक परिवर्तन क्रान्ति"—'इण्डस्ट्रियल रिवोल्यूशन इनइण्डिया' के लेखक मिस्टर चैटरटनकी भी भविष्यद्वाणी है कि अन्तमें कल-कारखानोंकी प्रधानता अनिवार्य्य है।

यहाँपर सत्य और न्यायकी दृष्टिसे यह कहना पड़ता है कि यह केवल एक पक्षकी बात है। यदि लार्ड कर्ज़न और सर जान हुएट जैसे महानुभाव भारतमें कारखानोंहीका स्वप्न देखते हैं तो मिस्टर मोरलैण्ड और प्रोफेसर राधाकुमुद मुकुर्जी एम० ए०, प्रेमचन्द रायचन्द स्कालरजैसे अर्थशास्त्रके धुरन्धर विद्वान् और प्रिन्सिपल हैवेल जैसे शिल्पज्ञकी राय है कि छोटे व्यवसाय और गृहशिल्पके लिए इस देशमें बहुत गुञ्जाइश है। उन्होंने जिस आधारपर इस मतका निर्णय किया है उसका संक्षेपमें वर्णन सुनिये—

(१) भारतवर्षमें मनुष्य कोई भी वृत्ति व्यवसाय क्यों न करते हों, पर साधारणतः वे कुछ न कुछ खेत जोतते ही हैं या कृषिसे सम्बन्ध रखते ही हैं। यदि आप उनसे वर्षके बारह महीने काम लेना चाहें तो वे नहीं कर सकते। बीच बीचमें कृषिके कार्यसे अवकाश पाकर वे अपने गाँवसे दूसरे गाँवोंमें या बड़े नगरोंमें मज़दूरी या उद्योग-धन्धेकी खोजमें दौड़ जाते हैं, पर वहाँपर बहुत दिन नहीं रह सकते। जब उनके बोने काटनेका समय आता है तो उस समय कोई किसी प्रकार उन्हें लालच क्यों न दिखावे पर वहाँसे वे भाग चलेंगे। यह निश्चित है कि वे कृषि छोड़नेके लिए तैयार नहीं हैं और फिर भी उन्हें सालमें तीन तीन चार चार महीनेकी बेकारीमें, किसी दूसरे उद्योग-धन्धेकी ज़रूरत हुआ करती है। इस व्यवस्थासे भी लाभ होनेकी कोई आशा नहीं होती। बस यहीं

गृहशिल्पकी ज़रूरत होती है। देखिये, जापानके खेतिहरोंमें सैकड़े पचीस रेशमके कीड़े पाला करते हैं, बाकी लोग फुरसत पाकर चिकें, चटाई, चंगेरी, पिटारी, रस्सी पंखा, खड़ाऊँ, कागज, कंदील इत्यादि तैयार करते हैं कुछ लोग मधुमक्खियाँ पालते हैं। धानके खेतोंमें मछलियाँ और चराईके मैदानके पास घोड़े और साँड़ पाला करते हैं। बहुतसे आदमी सूती, ऊनी कपड़े ही बुनते हैं।

(२) यह बात सच है कि देहातोंमें मनुष्य बहुत थोड़ी मज़दूरीपर काम करना स्वीकार कर लेते हैं। हमने प्रायः देखा है कि रेलके ठीकेदारोंकी ओरसे यदि किसी दिन गाँवमें एक चौधरी पहुँच जाता है तो वह बातकी बातमें सौ दो सौ कुली इकट्ठा कर लेता है। ऐसे लोगोंके लिए गाँवके भीतर ही तीन चार आने रोज़ पा जाना एक बड़े भाग्यकी बात है। यदि इन्हीं लोगोंको गृहशिल्पमें भाग लेनेका अवसर दिया जाय तो किस उत्साह और वेगसे काम हो, और थोड़े ही दिनोंमें हमारे ग्रामवासियोंकी दशा किस प्रकार पलट जाय।

(३) जो काम घरसे बाहर किया जाता है वह बहुत दिनों तक नहीं चलता और इसकी बड़ी शिकायत होती है कि कारीगर छोड़ छोड़कर काम करते हैं, जो करते हैं वे भी अङ्ग लगाकर, भरपूर और बहुत समयतक नहीं। सोचनेसे मालूम होता है कि जबतक कारीगर स्वतन्त्र होकर घरपर ही काम न करेंगे उनका यही हाल रहेगा। दूसरा लाभ इसमें यह है कि घरपर कारीगरोंको अपनी स्त्री और बच्चोंसे काममें बड़ा सहारा मिल सकता है। इसमें सबसे अच्छी बात तो यह होगी कि अभी परदेके कारण जो स्त्रियाँ किसी प्रकारके उद्योग-धन्धेमें भाग नहीं ले सकतीं वे भी घरके मर्दोंका हाथ

बटायेंगी। इस प्रकार सारा परिवार मिलकर काम करेगा। इसका फल यह होगा कि काम भी अधिक और बढ़िया होगा। यह व्यवस्था कारीगरोंके अनुभवमें जितनी सुखद और औद्योगिक दृष्टिसे उपयोगी होगी सामाजिक दृष्टिसे वह उतनी ही सन्तोषजनक ठहरेगी, अर्थात् घर रहनेके कारण कारीगरोंका चरित्र भी नहीं बिगड़ेगा।

(४) हम सभी चाहते हैं कि इस समय देशमें जितने काम करनेके योग्य आदमी मिल सकते हैं उनका समय और शक्ति नष्ट न होने पाये। जहाँतक शीघ्र सम्भव हो वे किसी उद्योग-धन्धेमें लगा दिये जायँ। ऐसी बात है तो बड़े कल-कारखानों-के खुलनेकी प्रतीक्षा न कर गाँव गाँव और नगर नगरमें अभीसे थोड़ी थोड़ी पूँजी लेकर छोटे छोटे व्यवसाय खोल दिये जायँ।

(५) कल कारखानेके लिए लाखों और करोड़ोंकी पूँजी चाहिए। पर हमारे यहाँ लखपति और करोड़पति गिने-गिनाये हैं। इसीलिए सं० १९६०–१ से लेकर नौ दस साल तक इस बातका बहुत प्रयत्न किया गया कि सम्मिलित पूँजी-से व्यवसाय व्यापार किया जाय पर इतने ही दिनोंके अनु-भवसे यह स्पष्ट मालूम हो गया कि अभी हममें इतनी व्यव-हार-कुशलता नहीं आयी है कि हम दूसरोंके धनका ठीक ठीक प्रबन्ध करलें। विवश होकर हमें छोटी पूँजियोंसे ही अपना कार्य करना है और इसमें सबसे अधिक सफलता छोटी आयतके गृहशिल्प खोलनेमें हो सकती है।

(६) जिस तरह बड़े कल-कारखानोंके लिए बड़ी रकमकी पूँजी चाहिए वैसे ही सिखे-सिखाये कारीगरोंकी भी बड़ी संख्या चाहिए। इधर देखिये तो इस समय कहीं उद्योग-

धन्धेकी चर्चा भी नहीं है, इतने कारीगर कहाँसे आ सकते हैं। हाँ, पहले कुछ दिनोंतक छोटे व्यवसायोंकी थोड़ी बहुत उन्नति हो जाय तो उसमें कुशलता प्राप्तकर बड़े व्यवसायोंमें काम करनेके योग्य अच्छे अच्छे शिल्पी निकल सकते हैं। इस विचारसे भी गृहशिल्पसे आरम्भ कर क्रमशः बड़ी औद्योगिक संस्थाओंकी वृद्धि की जानी चाहिए।

(७) प्रायः इस बातका दावा किया जाता है कि बड़ी आयतके कल-कारखानोंमें सन्तोषजनक श्रम-विभाग हो सकता है, अर्थात् माल बनाते समय मालके पृथक् पृथक् भाग उन उन विशेष कारीगरोंके हाथसे बनवाये जा सकते हैं जो उस काममें खूब निपुण हों। साथ ही साथ यह भी कहा जाता है कि यह सुविधा गृहशिल्पमें नहीं है, क्योंकि उसमें एक ही दो आदमीको आदिसे अन्ततक माल बनाना पड़ता है। इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि चाहे एक परिवारमें इतने शिल्पी न हों, पर मालका जो भाग उस परिवारके लोग सफाईके साथ बना सकते हों, वे उसीके बनानेका भार लें, मालके दूसरे भाग दूसरे परिवारवाले बनायेंगे। यह भी श्रम-विभागकी एक अच्छी विधि है और गृहशिल्पमें उसका अच्छी तरह पालन हो सकता है। उदाहरणके लिए यदि किसी एक घरवाले तालेके भीतरका भाग बनाते हैं तो दूसरे घरवाले ऊपरका ढाँचा तैयार करेंगे, तीसरे उसे खरादकर रंग चढ़ायेंगे, बस तीन घरोंके बीच ताला तैयार हो जायगा।

(८) जो देश कृषिप्रधान नहीं हैं उन्हें केवल उद्योग-धन्धोंके द्वारा बहुत सा माल तैयार कर दूसरे देशोंको भेजना पड़ता है जिसमें उनके बदलेमें जीवनके लिए आवश्यक

पदार्थ प्राप्त हों। इस परिमाणमें माल बनानेके लिए उन्हें कल-कारखानों हीका आश्रय लेना पड़ता है और विशेषकर नगर ही उनके केन्द्र होते हैं जिसमें रेलके द्वारा माल देशावर भेजनेमें सुविधा हो। भारतवर्षकी स्थितिपर दृष्टि डालनेसे यह मालूम होता है कि हमारी जो आवश्यकतायें कृषिके द्वारा पूरी नहीं होतीं केवल उन्हींके लिए हमें उद्योगधन्धोंकी आवश्यकता है, इसके अतिरिक्त इन उद्योग-धन्धोंसे प्रस्तुत मालको इकट्ठा कर दूर ले जानेकी आवश्यकता भी नहीं है, वह आस पासके गाँव और कसबोंमें बाँटा जा सकता है। यदि हम इसे बड़े नगरोंके बाज़ारमें या बन्दरगाहोंतक पहुँचाना भी चाहें तो हम नहीं पहुँचा सकते क्योंकि हमारे यहाँ अभी न तो इतने जलमार्ग हैं, और न सड़क और रेल ही हैं जो देशव्यापी शिल्पीय मालको एक जगहसे दूसरी जगह ले जायँ। बस इतना ही सम्भव है कि नगरोंसे दूर-स्थित गाँवोंके दस दस और बीस बीसके समूहकी आवश्यकतायें, उनके बीच किसी एक गाँवमें व्यवस्थित गृहशिल्पसे पूरी की जायँ।

१०.

देशी करघोंसे कपड़ा बुननेवाले शिल्पी

औद्योगिक श्रमजीवियोंकी श्रेणीमें कृषकोंके बाद करघेपर काम करनेवालोंकी ही गणना है क्योंकि इससे लगभग १ करोड़ १० लाख मनुष्योंको जीविका मिलती है।

किसी समय वे भी सुख और चैनसे दिन काटते थे और अब इनकी स्थितिमें एकाएक बड़ा अन्तर पड़ गया है। इसमें इन बेचारोंका क्या दोष! क्या वे घटनायें इनके वशकी थीं जिनके कारण आज इनकी ऐसी हीनावस्था है! बाहरसे देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है, मानो अपनी दशा सुधारना या न सुधारना इनके हाथमें था। घर छोड़कर आज ये कारखाने और पुतलीघरोंमें नौकरी करलेते, बस सारी समस्यायें हल हो जातीं। पर इनके लिए ऐसा करना बड़ी भूल होती। इससे बढ़कर अदूरदर्शिताका दूसरा काम ही नहीं हो सकता था। उनके इस आचरणके प्रतिकूल अनेक सिद्धान्तमूलक आपत्तियाँ हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

करघोंका काम सर्वथा उठा देनेसे काम नहीं चल सकता। आवश्यकता इस बातकी है कि शिल्पनिपुण भारतवासी अपने मार्गभ्रष्ट देशवासियोंको सुपथ पर लायें। जिस प्राचीन और अतिसराहनीय शिल्पपर शताब्दियोंतक देशकी समृद्धि अवलम्बित थी, उसे सहसा लुप्त होने देना कोई गौरवकी बात नहीं है। निस्सन्देह लैन्का-शायरके मिल और कारखानेवालोंका इसमें बड़ा लाभ है कि वे हिन्दुस्तानके मिलवालोंको यह समझा दें कि तुम हमारी शिक्षा, पूँजी और औद्योगिक कुशलताके आगे नहीं ठहर सकते, इसलिए अपना काम बन्द कर दो। वश चले तो वे भारत सरकारको भी यह बतलानेमें न चूकें कि देशी उद्योगमें रुपया उड़ाना व्यर्थ है। सबसे श्रेष्ठ नीति तो यह हो कि इन उद्योगोंपर कर लगाकर इन्हें बरबाद कर दें, नहीं तो कमसे कम इनसे अपना सम्बन्ध तोड़ डालें।

ख़ैर इनके मनकी नहीं हुई तो कमसे कम इन्होंने इतना कर दिया कि भारत सरकारको इस बातका विश्वास हो गया कि

बड़े कारखानों और छोटे शिल्प-उद्योगोंमें प्रतिद्वन्दिता ठीक नहीं है और इसलिए छोटे उद्योगोंको सहायता देना निष्फल है। प्रायः भारतमें करघोंका काम सिखानेवाली जितनी शिल्पशालायें थीं, उनमें केवल मिलकी मनेजरी और फोरमेनी-की शिक्षा, जिससे ५०) से ५००) तककी नौकरियाँ मिलती हैं, दी जाने लगी। फिर इसमें कौन अचम्भेकी बात है कि इन शिल्पशालाओंमें ऐसे ही शिक्षक रखे जाते हैं जो मिल और बड़े कारखानोंके ही काम जानते हैं तथा शिल्प-उद्योगोंके प्रति बड़ी घृणासे देखते हुए कहा करते हैं कि करघोंके कामका अन्त निश्चय है; इसके भविष्यका कुछ ठिकाना नहीं।

भारत सरकारने देशी करघोंके कामके विषयमें अनुसन्धान करनेके लिए तथा इसके आश्रयपर जीनेवालोंकी सहायताके निमित्त उपाय ढूँढ़नेका भार किसपर रखा? कहना पड़ेगा कि बराबर ऐसे आदमी मिलसे ही सम्बन्ध रखनेवाले होते हैं। उनकी सम्मति तो सबपर पहलेसे ही खुली है। एफ, बूथ टकर लिखते हैं कि मैंने कितनी ही बार ऐसे लोगोंको पत्र लिखे हैं और अनुरोध किया है कि हम लोगोंका काम देख जाओ और करघोंके विषयमें हम लोगोंकी कुछ राय भी सुन लो, पर इसके लिए उन्हें फुरसत नहीं मिलती। अन्तमें अपनी रिपोर्टमें एक पक्षकी बात लिखकर सरकारके कान भर देते हैं और सरकार गरीब जुलाहोंको सहायता देनेसे हाथ खींच लेती है।

ऐसा नहीं है कि बड़े कल कारखानों और छोटे शिल्पियों-के कार्यमें विरोध हो। ठीक जिस प्रकार पैदल और घुड़सवार दोनों सेनायें परस्पर सहायक हैं वैसेही इन दो दलोंको भी समझिये। देशी मिलों [illegible] इस बातके लिए व्याकुल हैं

कि हमारे बनाये सूतके खरीदार चीन, मलाया और अफरीका-में मिल जायँ। भला जबतक घरके अन्दर १ करोड़ १० लाख कपड़ा बुननेवाले चतुर जुलाहे मौजूद हैं तबतक इन्हें बाहर भटकनेकी क्या ज़रूरत है ? वे भारतमें पहले सूत बेचलें शेष विदेशियोंके हाथ भले ही बेच दें।

११.

"कहाँ क्या हो रहा है"

भारतीय उद्योग और शिल्पकी परिपोषिका कई स्थायी संस्थायें हैं जो हमारे शिक्षितवर्गके लिए दर्शनीय हैं। उनसे सम्बद्ध संस्थायें छोटे छोटे गाँवोंतकमें होनी चाहिएँ जिसमें उनसे पूरा लाभ उठाया जाय।

(१) इस समय मद्रासमें विक्टोरिया-स्मारकके रूपमें एक बड़ा भवन है जिसमें देशी शिल्पियोंके हाथके बनाये माल दर्शकोंके वास्ते सहेजकर रखे गये हैं।

(२) बङ्गालकी राजधानी कलकत्तेमें "कामर्शल म्युज़िअम" के नामसे एक स्थायी प्रदर्शनी खोली गयी है। सब किसकी देशी वस्तुएँ जिनके साथ टिकटके ऊपर दाम और बनाने-वालोंके नाम पते दिये रहते हैं, देखनेमें आती हैं। शिल्पी और व्यापारीके परस्पर सम्बन्ध करानेका इससे बढ़कर क्या उपाय हो सकता है। "म्युज़िअम" में नमूने रखे हैं, आप पसन्दके अनुसार वहींपर थोड़ा बहुत मालके लिए "आर्डर" भी दे सकते हैं। यह सराहनीय काम सरकारी "कामर्शल इन्टेलिजेन्स डिपार्टमेण्ट"की ओरसे होता है।

(३) समवाय मैन्शन विल्डिंग्समें "बङ्गाल काटेज इन्डस्ट्रीज"; जिस समितिकी यह प्रदर्शिनी है उसका मुख्य उद्देश्य गृहशिल्पका प्रचार है। उसने एक लाखका फण्ड भी जमा कर लिया है। राजे महाराजोंसे लेकर क्षुद्र कृषकोंके हृदयमें भी इस समितिने अपने आन्दोलनसे गृहशिल्पके लिए श्रद्धा उत्पन्न करा दी है। इसका भविष्य शीघ्र ही आशापूर्ण है।

(४) कानपुरमें "विलेज इन्डस्ट्रीज डिपू" के नामसे एक संस्था है, जहाँ प्रायः संयुक्तप्रान्तकी दस्तकारीके काम संग्रह किये गये हैं। इस संस्थाके नामसे भ्रम होता है कि प्रदर्शित वस्तुएँ गाँवकी वनी हैं पर वास्तवमें यह शहरोंकी ही वनी हैं।

(१) वड़ी आवश्यकता इस वातकी है कि देशी करघोंसे कपड़ा वुननेवालोंको सच्चे हितैषी और नेता मिलें। अभीतक उन्हें जितने मार्ग प्रदर्शक मिले हैं उन्होंने उन्हें और भी गुमराह कर रखा है। ऐसे लोगोंके ऊपर उनका कैसे विश्वास हो सकता है और वे इनका कौन सा भला कर सकते हैं।

(२) दूसरे पुराने खूसट ढङ्गको छोड़कर आधुनिक ढङ्गसे वुननेकी शिक्षाकी ज़रूरत है।

(३) देशी शिल्पियोंको वाहरी वाज़ारसे परिचित कराना चाहिये।

(४) इसमें जो काम शिल्पी स्वयं नहींकर सकते उसके लिए सरकारको मुक्त हस्त खर्च करना पड़ेगा। यदि देशी शिल्पियोंको इस समय भी उचित दीक्षा और शिक्षा मिले और संसारमें कपड़ेके वड़ी हाटोंतक इनकी रसाई हो तो इनके द्वारा पुनः भारतका मान बढ़े और दुनियाँ भरके व्यापारी यहाँके माल खरीदनेमें एक दूसरेके साथ स्पर्धा करें।

(इयरबुकके आधारपर)

१२.

"कहाँ क्या बनता है और बनना चाहिये"

इस देशमें अब भी शिल्प और दस्तकारीका काम बहुत होता है पर मालकी तैयारी और बिक्री दोनों अधिकतर शहरमें ही होती है। जाँच करनेसे देखनेमें आता है कि उनमेंसे बहुतेरे काम गाँवोंमें भी बन सकते हैं। पर इसमें आगे बढ़नेवाला कोई नहीं मिलता। अपनी ओरसे गाँवके कारीगर अब दो एक देसावरी चीज़के सांचे पर कुछ गढ़ते हैं तो लोग उन्हें "कठ-बिगड़ा" और थोथा कह कर हतोत्साह कर देते हैं। देशके सभी हितचिन्तकोंका यह धर्म है कि वे अपनी यात्राओंमें जिस नगर वा प्रान्तसे होकर निकले वहाँ-की प्रसिद्ध वस्तुएँ मोल लेकर संग्रह करें और गाँवमें लौटनेपर उन्हें एक कौतुकागारमें रखें, फिर गाँवके मिस्त्री और कारीगरोंको बटोरकर उन चीज़ोंकी विशेषता बतावें और सिवा उनके जो "पेटेन्ट" हैं बाकीके नमूने पर अपने हाथों वैसा ही माल बनानेकी उत्तेजना दें। अमीर आदमी जब भ्रमण करते हुए बड़े नगरोंकी विदेशी दूकानोंमें पहुँच जाते हैं तो बेधड़क सैकड़ों रुपये की चीज़ें ख़रीद लेते हैं। वे यह नहीं सोचनेका कष्ट उठाते कि यही वस्तुएँ दो चार दिन धैर्य्य धरनेपर वा चार पैसे अधिक ख़र्च करनेसे अपने स्थानमें भी प्राप्य होंगीं वा नहीं। किसी शौकीन महाशयने एक "थर्मल फ़ास्क" (Thermal flask) अर्थात् सफरमें ठंढा शरबत वा गरम चायको रखनेका चोंगा देखा। और तुरन्त विदेशीके हाथ रुपये गिन दिये और फ़ास्क ले

लिया। वे अपने घरके पुराने मिस्त्रीको, जिसने उनके वास्ते टेढ़ेसे टेढ़े कल पुरज़े ठीक किये हैं "थर्मल फ़ास्क" की बनावट दिखानेकी तकलीफ नहीं उठाते। दवायें रखनेकी खाँचदार सन्दूक शृङ्गारदान, इत्रदान भी वे विदेशोंसे ही मँगाते हैं। गाँवका साधारण बढ़ईके लिए—जो आपकी सहर्ष सेवा कर सकता है, सात समुद्र पारवालोंकी कैसी निर्भरता। यथा सम्भव स्थानीय शिल्पकारोंके दरवाज़े खटखटाइये, काम न निकले तो शहरवालोंपर अनुग्रह कीजिये, उसके अनन्तर चाहे जहाँ जाइये, आपकी ख़ुशी।

देखिये एक प्रान्तके भीतर, भिन्न भिन्न स्थानोंकी ख़ास ख़ास चीज़ें इस प्रकार मिल सकती हैं।

(संयुक्त-प्रान्त)

ब्रुश—आगरा-कानपुर
चूड़ियाँ—फिरोज़ाबाद और मेरठ
सङ्गमरमरकी चीज़ें—आगरे और जयपूर
मिट्टीके फूलदान, सुराहियाँ, प्याले—चुनार
गलाये कागज़की चीज़ें (पापिये माशी) } जौनपुर, ज़फराबाद
कैंची—मेरठ।
नगीना और पत्थरके काम—बान्दा
कंघी—सम्भल और इटावा
कोड़े, चाबुक,—फतेहपूर
साबर—गोरखपूर
इतर—कन्नौज
तस्वीरके चौखटे—सहारनपूर
चाँदी सोनेके तश्त, गुलाबपाश डिब्बे, प्याले—अमरोहा

आबनूसके बुकक्केस, बक्स, सिग-रेटका बक्स, कलमदान } नगीना
फोटो-फ्रेम—मैनपुरी
लकड़ीके काम—तिलहर
मेज़ कुरसियाँ आदि—बरेली
कलईके बरतन पानदान, शमादान—मुरादाबाद
दरी-गालीचे—मिर्ज़ापुर
मिट्टी और लाखके खिलौने—लखनऊ
ताले, लीवरवाले—अलीगढ़
चाकू—हाथरस
खिलौने, मथुरिये छापेके परदे, चादर, रूमाल, रिंगदार ताले } मथुरा

(बिहार)

टोपीके पल्ले, सादे
„ कामदार } बिहार शहर

चाँदीके वरक
बारीक चादर
„ रूमाल
इजारबन्द } बिहार शहर

नसर और वाफ़्तेके थान—भागलपूर।
टीनमें बन्द, न बिगड़नेवाले फल—मुजफ़्फ़रपूर

स्लेट—लिखनेके योग्य
„ छत पाटनेके
आबनूसकी जड़ाऊ छड़ियाँ
छुरे, पिस्तौल } मुंगेर

दरी और कम्बल—गया

सीपके बटन—महसी, चम्पारन
करावा, कारूरा, सुराही और टिकुली, बिन्दी—सीवान
काठके डब्बे, मलिया, तश्तरियाँ
जापानी बारनिश चढ़ासी } ससराम
टीन और लकड़ीके रङ्गीन खिलौने
ज़रदोज़ी, टोपी, सारियाँ } पटना

—

१३.

गो-पालन

यदि हम कहें तीस करोड़ भारतवासियोंमें समयके प्रभावसे बीस करोड़से अधिक मनुष्य शुद्ध दूधका स्वाद ही भूल गये हैं तो हमारे कथनमें अतिशयोक्ति न होगी। इतना ही नहीं गाँवोंमें जिस समय किसानोंके दर्वाजेसे होकर गाय भैसोंकी पाँती जंगलोंको जाती हैं या जब वह संध्याको पहाड़ोंसे उतरती हैं तो उन्हें देखकर भी कभी यह लालसा नहीं होती कि हमारे घर एक दो गायें होतीं तो कितना अच्छा था! बहुतोंको तो घरमें 'लक्ष्मी' बाँधनेका विचार कुछ वैसा ही प्रतीत होता है जैसे झोपड़ोंमें रहना और ख्वाब देखना महलोंके। इसीलिए शहरोंके भले आदमी चाहे दूसरोंकी जोड़ी फिटन, बग़ीचा और इमारत देखकर संभव है थोड़ी देरके लिए सहम जावें और सोचने लगें कि क्या हम भी कभी जोड़ीमें बैठेंगे क्या हमारा भी बग़ीचा होगा? परन्तु यह ध्यान कभी नहीं होता कि किसी यत्नसे हमारे घर भी एक

गोशाला हो, उसमें कमसे कम एक अच्छी सी गाय पले और हमें सुबह शाम शुद्ध, ताज़ा निरोग दूध पीनेको मिले।

इस स्थितिके कई कारण हो सकते हैं। गावोंमें गाय भैंस ही निर्धन किसानोंके सर्वस्व होते हैं सो नक़द रुपयोंकी आवश्यकता पड़ते ही उनको तुरन्त इन जानवरोंको बेच डालना पड़ता है। बादमें जब साग सत्तू और जौं बाजरेकी रोटी भी जीवन-निर्वाह के लिए नहीं मिलती तो दूध पीनेके लिए दाम देकर गौ कौन पालता है? उनका 'लहना' 'पावना' ऐसा बराबर रहता है कि मेले या बाजारसे गाय खरीद लाना असंभव हो जाता है। शहरोंमें घास भूसीकी महँगी, मकानकी तेज़ी और समयके अभावसे घरमें गौ पालना एक बड़ी बात हो जाती है। परन्तु यदि घरमें गौके न होनेकी असुविधा, ख़र्च और भयका पूरा विचार किया जाय तो हमें स्पष्ट मालूम हो जाता है कि विना गौ पाले किसी हिन्दूकी गृहस्थी चलना सर्वथा असंभव है।

कहनेके लिए लोग कह देते हैं कि गौ पालना महा झंझट है, बड़े धनाढ्य आदमीका ही काम है परन्तु बच्चोंके लालन पालन, रोगियोंके पथ्य और पूजा त्यौहार और आये गयेके सत्कारके लिए किस परिश्रम, ख़र्च और खुशामदसे हम सेर आधसेर दूध खरीदते हैं यह सबको मालूम है। बड़े बड़े शहरोंमें तो जबतक किसी अहीर या 'डेरी' से दूध बँधा न हो तो एकाएक रुपयेके चार सेरके हिसाबसे भी एक छटाँक दूध मिलना दुर्लभ हो जाता है। पेशगी देने, बड़ी बड़ी मिन्नतें करने और सुबह शाम हाज़री देने पर भी जो दूध मिलता है उसकी शुद्धताका कुछ ठीक नहीं। उसमें खरिया, मक्खन निकाला बासी दूध, गंदा पानी, न जाने क्या क्या मिला रहता

है। ऐसे दूषित दूधमें कृमियोंके सम्पर्कसे हमारे सामने एक योग्य डिप्टी साहबको बातकी बातमें ऐसी सख़्त पेचिशकी बीमारी हुई कि उसीमें उनका देहान्त हो गया। एक मित्रके घरमें दो बालक और स्त्रीको मोतीझरा हो गया, जिसमें एक मासतक रोगी बेसुध पड़े रहे, उनकी सेवा शुश्रूषामें अपनी नौकरी छोड़ दिन और रात मेरे मित्र भी बावले रहे। यदि नौकर और अहीरपर भरोसा न हो तो लोटा या बासन लेकर दूधके लिए खुद अहीरके दर्वाजे पहुँचिये। इस क़वायदसे भी लोग बाज़ी नहीं चूकते। सबेरा हुआ नहीं कि अहीरकी गोशाला को चल पड़े। इन अहीरोंके पाससे आये दूसरे छोटी पूँजी-वाले अहीर भी फेरी करनेके लिए दूध ले जाते हैं। वह अपने ग्राहकोंके हाथ दूधमें पानी इत्यादि मिलाकर बहुत महँगा बेचते हैं इसलिए बड़े अहीरसे दूध लेते समय ज्यादा दाम भी देते हैं। जिस दिन अहीरका दूध इस प्रकार बिक जाता है उस दिन सफ़ेद पोश बाबुओंको पेशगी देनेपर भी खाली हाथ लौटना पड़ता है। उनका बच्चा भूखा रोये, रोगी बिना पथ्यके टुहल जाय या आप रूखी रोटी खायँ, अहीरकी बला से। इस प्रकार तो दूधका सौदा होता है! बाजारमें प्रायः सामनेका दुहा दूध रुपयेका चार और पाँच सेर मिलना कठिन हो जाता है। कैसा अन्धेर है! हिन्दुओंका आदर्श आहार, बालक बालिकाओंकी बाढ़के दिनोंमें निर्विकार पुष्टि देने वाला, रोगी और वृद्धका एक मात्र आधार दूध हमको अलभ्य हो गया है।

ऐसे अवसरोंपर यदि हम यह पूछें कि इस अमूल्य दूधकी देनेवाली गौकी घरमें प्रतिष्ठा करनेमें आख़िर क्या अड़चने हैं तो सबसे बड़ी बात उसके दाने पानीका ही खर्च मालूम

होगा। आप कहेंगे बड़ी हिम्मत करके कोई साधारण सी गौ खरीद भी ले तो घास भूसा और कराईमें ही दिवाला निकल जायगा। परन्तु यह मिथ्या धारणा है। गाय रखनेसे कोई घाटा नहीं बैठ सकता। मामूली कसबेसे लेकर बड़े शहरतक हम कहीं भी हिसाब लगाकर देखें कि एक गौके पीछे गो-शालाके किराये, गौर तथा रखवालीमें क्या खर्च होता है तो पता चलेगा कि वह कितना दूध देती है उसके आधे वा तीन चौथाई दामसे ज्यादा नहीं पड़ता। कसबे या छोटे शहरोंमें दूध मन्दे भावपर बिकता है तो वहाँ गोत भी क़िफ़ायतसे मिलती है। बड़े शहरोंमें यदि गौतके लिए अधिक देना होता है तो दूध भी अधिक निर्खपर बिकता है। इस प्रकार गौका निर्वाह सर्वत्र उसके दूधसे एकसा निकल आता है वरन् प्रति वर्ष उससे कुछ बचत भी होती है जो उसके उन दिनोंके पोषणके लिए काफ़ी समझनी चाहिए जब वह गाभिन होनेपर दूध नहीं देती। घर बैठे, समयपर यथेष्ट, शुद्ध, ताजा, निरोग, तोलमें पूरा दूध मिल जाता है, वही अपना फायदा समझिये।

यह निरी कल्पना नहीं है। कागज़ पेंसिल लेकर हिसाब कर लीजिये सब जगहोंमें गौतका दर समान नहीं है परन्तु फिर भी एक अन्दाज़ किया जा सकता है। गोतका परिमाण जानवरके ऊपर निर्भर है अर्थात् अच्छी जातके लिए अनाज, खली, मांड इत्यादि अधिक और साधारण देशी जानवरके लिए भूसी कराई और खली आदि थोड़े परिमाणमें दे देनेसे काम चल जाता है। एक अच्छी नागौरी गौकी गौतका ख़र्च जोड़ लीजिये, दूसरे जानवरोंके ख़र्चमें उसी अन्दाज़से कमी-बेशी हो सकती है।

एक नागौरी या हिसारी गौ जो प्रति दिन १० सेर दूध देतीं है दोनों वक्तमें इस प्रकार गोत खायेगी :—

(१) दो सेर खली, दर रुपयेके ७ सेर दाम = ०—४—६
(२) चार सेर कराई, दर रुपया ११ लेर " = ०—५—६

या { एक सेर चुन्नी दर रु० की ८ सेर / दो सेर कराई } लगभग दाम ०—५—०

(३) दस सेर, भूसा*—दर रु० के २० सेर दाम० = ८—०
या ५ सेर घास या करबी—दाम ०—४—०
(४) गुड़ और नमक " = ०—०—६

प्रति दिनका खर्च १—२—६

प्रति मास ... ... ३५—२—६
रखवाली—प्रति मास ... ०—८—०
ढावेका किराया " ०—८—०
नांद या घमला, खूंटा, पगहा आदि ०—२—६

कुल खर्च ३६—५—०

इसमें गोबर आदिकी विक्रीसे ५ आने पैसे प्रति मास निकल आयँगे। शेष ३६) रु० प्रति मास कुल खर्च होगा। गौवें बछड़ा देनेके ६ महीने बाद बहुधा फिर गाभिन होती हैं। इस हिसाबसे पहले तीन मास तो वह पूरा १० सेर रोजाना दूध देती जायँगीं, पश्चात् उनका दूध पहलेसे $\frac{3}{4}$ हो जाता है अर्थात् करीब ७ सेर प्रति दिन देंगी। तीन मासके ता

* भूसा या कराई, बैशाख जेठमें लेनेसे और भी सस्ता हो सकती है।

बाद दूध पाँच सेरतक उतर जाता है, जो बच्चा देनेके तीन मास पूर्वतक देती रहती हैं। इसका ध्यान रखकर दूधकी आय देखी जाय तो पहले तीन मासमें रुपयेके ४ सेरकी दरसे २२५) रु०, पश्चात् तीन मासमें १५७॥) और पिछले छः महीनेमें २२५) रु, बाद तीन महोने दूध बिलकुल थोड़ा या नहींके बराबर समझना चाहिये, अर्थात् कुल १५ महीनेमें ६०७॥) की आय होगी। उधर खर्चका हिसाब ३६) × १५ = ५४०) होगा।

यदि गौकी खरीदका दाम १००) रख लिया जावे और यह मान लिया जाय कि पाँच बच्चे देनेके बाद वह प्रायः निर्बल और शिथिल हो जायगी तथा केवल पिंजरापोलमें विश्रामके लिए छोड़ देने योग्य रहेगी तो इस अवधिमें अर्थात् ५ × १५ मास = सवा छः सालमें खरीदका दाम भी वसूल होना चाहिये। इस हिसाबसे ५४०) में १६) सालाना और जोड़िये, इसके अलावा सैकड़ा ५) सालाना सूदका भी रखिये, गरज़ कुल ख़र्च ५६१) का हुआ। एक बात और रह गई, प्रति १५ मासके उपरान्त अच्छे साँड़से जोड़ खिलानेके लिए ५) से कम नहीं देने होंगे सब मिलाकर ५६६) ख़र्च हुए। अब एक दृष्टि आयपर डालिए। ऊपरके हिसाबसे ६०७॥) प्रति १५ महीने हम निकाल ही चुके हैं, इसमें एक बच्चेका दाम भी जोड़ना चहिये। औसत दर्जे गौके असली दामका दशांश फ़ी बच्चा मिल जाता है। इसलिए सम्पूर्ण आय (६०७॥) + १०) = ६१७॥) हुई संभव है। कभी गौ बहक कर मवेशी खानेमें पहुँच जाय, रोगी हो जानेपर उसे अस्पतालमें भेजना पड़े, इन सबकी फीसमें १०) साल और खर्च हो सकते हैं। इस प्रकार अन्तिम आयव्ययकी तुलना इस प्रकार होगी—

५६६ + १० रु० (अस्पताल और मवेशी खानेके) [illegible]

कुल खर्च ५७६) रु०, और दूध, बच्चा, गोबर इत्यादिसे कुल आय ६१७॥)

यदि आपने कोई साधारण देशी गो खरीदी तो नागौरी गौके मुकाबले गोतका ख़र्च आधा होगा, परन्तु दूध आधे से भी कम होगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि देशी गौ पालनेमें फ़ायदा नहीं हैं। परन्तु जिसके पास इतनी पूँजी नहीं है वह विवश होकर देशी खरीदा ही चाहे। कुछ भी हो ऊपरके लेखेमें हम आयव्ययमें जो अन्तर देखते हैं अर्थात् ६१७॥) से ५७६) घटाइये तो ४१॥) की जो बचत दिखाई पड़ती है उसे बाज़ार दरमें गौतकी घटती बढ़ती के लिए रख छोड़ें, साधारण गौ पालनेमें अधिक ख़र्चका हिसाब करें, तब भी किसी सुरतसे यह नहीं कहा जा सकता कि गौ पालनेवालेको तनिक भी इस बातका भय है कि वह गौ पालनेके पीछे दिवालिया हो जाय। यदि हम इस ओरसे उदासीन हो रहे हैं तो उसका वास्तविक कारण यह है कि हिन्दू सभ्यता और जीवन आदर्शसे विमुख हैं और बेसुध हो रहे हैं। विलायती चूहा और खरगोश, शिकारी कुत्ता, चीनी मुर्गी आदि पालनेसे हमें 'कल्चर्ड' और 'मैन आव टेस्ट' की उपाधि मिलेगी, गौ पालनेपर वही पुराने बछियाके ताऊ कहलायेंगे। निःसन्देह !

ज्ञानमण्डल-ग्रन्थमालाकी प्रकाशित पुस्तकें

पहला और दूसरा ग्रन्थ :—

स्वराज्य का सरकारी मसविदा (१म भाग)

" " (२य भाग)

सम्पादक—श्री श्रीप्रकाश बी० ए० एल-एल० बी० (बार एट् ला)।

यह आधुनिक राजनीतिका एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। प्रथम भागमें खास सरकारी मसविदेका वर्णन है और दूसरेमें भारतकी भूत और वर्तमान सरकारी परिस्थितिकी सरकारी आलोचना है। मूल्य केवल १॥।), दोनों भागोंकी पृ० सं० ५८०।

तीसरा ग्रन्थ—

अब्राहम लिङ्कनका जीवनचरित

(ले० पं० श्रीरामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे)

एक गरीब झोपड़ीमें पलकर अमरीकाके सभापति हो जानेका अद्भुत नमूना देखिये और तुरन्त मँगाइये मूल्य ॥)

चौथा ग्रन्थ—

प्राचीन भारत

(ले० पं० हरिमङ्गल मिश्र एम० ए०)

प्राचीन इतिहासका एकदम नया ग्रन्थ। ऐतिहासिक क्षेत्रमें अद्भुत खोज पढ़नेके लिए अवश्य मँगाइये। मूल्य ३॥।-) सजिल्द।

पाँचवाँ ग्रन्थ—

इटलीके विधायक महात्मागण

(सम्पा० रामदास गौड़, एम० ए०)

आस्ट्रियाकी गुलामीसे इटली देशको मुक्त करनेवाले महापुरुषोंके अद्भुत जीवनचरित्र पढ़िये। मूल्य २।) । सजिल्द।

छठा ग्रन्थ—

यूरोपीय शिक्षण सुधारक

(ले० श्रीचन्द्रशेखर वाजपेयी, एम-एस० सी०)

यूरोपकी शिक्षाको पलटा देनेवाले बड़े बड़े चमत्कारी विद्वानोंके जीवन[illegible] किये गये हैं। मूल्य १॥-) सजिल्द।

सातवाँ ग्रन्थ—

विहारीकी सतसई

(ले० श्रीपद्मसिंह शर्मा)

अपूर्व तुलनात्मक लेखनीसे मर्म खोले गये हैं। साहित्यका रस लेना हो तो अब न चूकिये। मूल्य २)

आठवाँ ग्रन्थ—

बनारसके व्यवसायी

(ले० भगवतीप्रसादसिंह)

बनारसके कारीगरोंकी सामाजिक स्थिति और गृह दशाका सच्चा दृश्य खिंचा गया है। देश-प्रेमियोंको एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए। मूल्य ॥≈) अजिल्द ॥≋) सजिल्द

नवाँ ग्रन्थ—

गृह-शिल्प

(ले० श्रीगोपालनारायणसेनसिंह बी० ए०)

देशकी घरेलू कारीगरी और उद्योगधन्धोंकी दशा और उन्नतिके उपायोंको जानिये। मूल्य ॥-)

दसवाँ ग्रन्थ—

वैज्ञानिक अद्वैतवाद

(ले० रामदास गौड़ एम० ए०)

सरल और रोचक भाषामें दर्शनोंके रहस्य खोलते हुए शङ्करके अद्वैतवादका वैज्ञानिक ढंगसे मर्म समझाया गया है। पढ़नेसे आत्मिक शान्तिका अनुभव होता है। मूल्य सजिल्द १॥≈), अजिल्द १॥≈)

ग्यारहवाँ ग्रन्थ—

जापानकी राजनीतिक प्रगति

(ले० लक्ष्मण नारायण गर्दे सं० दै० भा० मि०)

जापानकी उन्नतिका इतिहास ओजस्विनी लेखनीसे लिखा गया है। राजनीतिक उन्नतिमें जापानके राष्ट्रीय जीवनका पता इसीसे लगेगा।

छप रहे हैं—

राष्ट्रीय आयव्यय-शास्त्र।

रोम-साम्राज्य।

विलुप्त पूर्वीय सभ्यता।